मनुस्मृतिः

एक अध्ययन

लेखक : पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय

4

मनुस्मृति : एक अध्ययन

स्व. पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय
(मनुस्मृति भाष्यकार)

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

मानव समाज की सच्ची सुख-शान्ति और समृद्धि का मूल धर्माचरण है। आज धरती आकुल-व्याकुल है। सम्पूर्ण पृथिवी का पोर-पोर पीड़ा से कराह रहा है। धर्माचरण के पीयूषवर्षण से ही यह दावाग्नि शान्त हो सकेगी।

प्रश्न है, धर्माचरण क्या? क्या शत-शत मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों के अनुगमन का नाम धर्माचरण है? उत्तर है—'न' इन विविध सम्प्रदायों ने तो विराट् मानवता को टुकड़े-टुकड़े करके रख दिया है। तब धर्माचरण से हमारा आशय है, सार्वभौम धर्म—मानव-धर्म—का आचरण।

धर्म के लक्षण—उस सार्वभौम मानव-धर्म का लक्षण क्या है? उक्त मनु-श्लोक में उसी की ओर संकेत किया गया है। इस सार्वभौम मानव-धर्म के चार लक्षण यहाँ बताये हैं—

(1) वेद—ईश्वरीय, ज्ञान, ईश्वरी कानून या ईश्वराज्ञा। यह श्रौत धर्म है। सार्वभौम शाश्वत सत्य (Eternal laws) ही ईश्वरीय नियम हैं। ये सत्य-सिद्धान्त देश और काल के लिए समान हैं। इन नियमों का जानना और उन्हें सही रूप में मानते हुए तद्वत् आचरण करना 'धर्माचरण' का पहला अंग है।

इस विषय में यहाँ विस्तार में जाने का हमें अवसर नहीं है। यहाँ इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि यह सुसिद्ध हो चुका है कि विश्व

नियमन और मुख्यतया मानव की जीवन-यात्रा की चरम सिद्धि के लिए ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है और यह ज्ञान चार वेद-संहिताओं के रूप में हमें उपलब्ध है। वेद किसी देश-विशेष की सम्पत्ति नहीं, और न ही वेद में किसी जाति विशेष का इतिहास ही है। वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद की शिक्षाएँ सार्वभौमिक हैं, सार्वकालिक हैं। वे सार्वभौम सच्चाइयाँ (Universal Truths) हैं।

उदाहरण के लिए पवित्र वेद की एक शिक्षा है—

उद्यन्त इव सूर्य सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे।

अर्थात् 'उगते हुए सूर्य की रश्मियाँ किसी सोते हुए मनुष्य पर पड़ें तो वे उसका तेज और वर्चस् हर लेती है।' दिन काम करने के लिए है, रात्रि विश्राम के लिए। यह एक सार्वभौम सत्य है। हम यदि इसके विपरीत आचरण करें, रात्रि में काम करें तथा दिन में सोयें तो यह ईश्वरीय नियम के विपरीत व्यवहार है। इसका दुष्परिणाम हमें भोगना पड़ेगा। देश और काल से ऊपर उठा हुआ यह सार्वभौमिक और सार्वकालिक सत्य है।

इसी प्रकार हर मनुष्य माता के गर्भ से एक निश्चित क्रम और व्यवस्था के अनुसार जन्म लेता है। यह क्रम भी सभी देशों और सभी कालों में समान है। अब यदि कोई यह कहे कि बिना पुरुष के योग के कुमारी के गर्भ से ईसा ने जन्म लिया अथवा कुन्ती माता के कान से कर्ण उत्पन्न हुआ, तो ये दोनों ही, और इसी प्रकार के सभी कथन सार्वभौमिक सत्य—वेद के विरुद्ध होने से अमान्य हैं। इन चमत्कारों को स्वीकृति देना अन्धकार और अज्ञान को आमन्त्रित करना है, जिसका परिणाम कालान्तर में दुःख और अशान्ति ही हो सकता है।

हाइड्रोजन के दो भाग और ऑक्सीजन के एक भाग से मिलकर जल बन जाता है—यह वैज्ञानिक सत्य, वैदिक सत्य है। ऐसे सभी वैज्ञानिक सत्य वैदिक सत्य ही हैं। हाँ, वैज्ञानिक शोध अपूर्ण हो सकती हैं, वैदिक सत्य पूर्ण और सनातन हैं।

दो और दो चार की तरह वेद त्रिकालाबाधित सत्यों और सार्वभौम सृष्टि-नियमों का प्रतिपादक है। वेद की कल्याणी वाणी सृष्टि-भर के सब काल के सब मानवों के लिए हितकारी है। वेद विश्व-धर्म है। हमारा कोई

आचरण विश्व-शान्ति में बाधक न हो—यह धर्माचरण की प्रथम कसौटी है।

(2) स्मृति—'वेद' विश्व-धर्म है, 'स्मृति' राष्ट्रधर्म है। वेद परमात्मा का कानून है। स्मृति राष्ट्रविरोध का कानून है। यह स्मार्त धर्म है। यह आवश्यक है कि हमारा राष्ट्र-धर्म विश्व-धर्म की मूलभावना से अनुप्राणित हो। स्मृतियाँ वेदानुमोदित होनी चाहिए। हाँ, जहाँ श्रौत धर्म (वैदिक सत्य) सब कालों और सब देशों के लिए समान होगा, वहाँ स्मार्त धर्म में देश-काल का भेद हो सकता है। उदाहरण के लिए अरब (रेगिस्तान) में जल का अभाव है। वहाँ सभी के लिए नित्य स्नान सम्भव नहीं तो 'वज़ू करके' काम निकाला जा सकता है। (हाँ, मूलभावना 'शुद्धि' की यथासम्भव पूरी-पूरी रक्षा होनी ही चाहिए।) परन्तु भारत में भी जहाँ गंगा-यमुना की पवित्र धाराएँ बहती हैं, यदि कोई 'वज़ू करके' काम निकालता है तो वह स्मार्त धर्म और श्रौत धर्म में भेद न करके मूढ़ता को ही व्यक्त करता है तथा एकदेशस्थ मनुष्यों के आचरण में भेदभाव उत्पन्न करने का पाप ही खरीदता है। 'स्मार्त धर्म' वेद-प्रतिपादित शाश्वत सत्यों की रक्षा करता हुआ देश और काल की विशेष स्थितियों के विचार का पूर्ण अवसर देता है। इस प्रकार सुप्रकट है कि स्मृतियाँ ऋषि-मुनियों की वे व्यवस्थाएँ हैं जो उन्होंने देश-काल और तत्कालीन परिस्थिति को देखकर बनाईं। उनमें सभी प्रकार के लोक-व्यवहार के नियम हैं। व्यवस्थाओं में बँधा हुआ व्यक्ति, परिवार, समाज तथा राष्ट्र प्रगति करता है। स्मृतिशास्त्र को यदि 'आचार-शास्त्र' अथवा 'व्यवहार-शास्त्र' कहा जाये, तो यह अत्युक्ति नहीं है।

सृष्टि की उत्पत्ति, काल-व्यवस्था, देश-विभाग, मानव के व्यक्तिगत जन्म से मरण तक के धर्म, पारिवारिक कर्तव्य तथा व्यवहार, समाज तथा राष्ट्र का निर्माण और उनकी व्यवस्थाएँ, आपद्-धर्म इत्यादि सभी विषय स्मृति-शास्त्र के अन्तर्गत आ जाते हैं।

इस प्रकार धर्माचरण की दूसरी कसौटी है कि हमारा कोई विचार, कथन और आचरण राष्ट्र के संविधान या राष्ट्रहित के विरुद्ध न हो, अर्थात् वह स्मृति के अनुकूल हो।

(3) सदाचार—इसका अर्थ है **'महापुरुषों द्वारा आचरित समाज-धर्म'**। सामाजिक अभ्युदय की दृष्टि से सदाचारी धर्मात्मा पुरुष जिन

सामाजिक परम्पराओं तथा शिष्टाचार के नियमों का निर्धारण करते हैं, उनका भी विचार आवश्यक होता है। हाँ, बुद्धि को साथ रखते हुए, यह सदैव देखना चाहिए कि कोई सामाजिक परम्परा (रीति-रिवाज) मूल धर्म (वैदिक सत्यों) के विरुद्ध न हो तथा सिर्फ रूढ़ि बनकर उलटे समाज या राष्ट्र की प्रगति में बाधक तो न बन गयी हो! क्योंकि ये परम्पराएँ और सदाचारपरक शिष्टाचार के नियम मूलतः समाज को सशक्त और समृद्ध बनाने के लिए ही होते हैं। देश-कालानुसार समय-समय पर इनमें परिवर्तन हो सकता है, परिवर्तन होते रहना चाहिए। हाँ, हमारा सामाजिक आचार (सदाचार) वेद और स्मृति के अनुकूल हो, यह आवश्यक है। तो धर्माचरण की तीसरी कसौटी है सामाजिक सदाचार (Social etiquette) हमारा हर विचार-आचार इसके अनुकूल होना चाहिए।

(4) आत्मा की अनुकूलता—धर्माचरण की यह अन्तिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण कसौटी है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' का आदर्श सदैव हमारे दृष्टि-पथ में रहना चाहिए। हमारा कोई व्यवहार ऐसा न हो जो यदि वही व्यवहार किसी अन्य के द्वारा हमारे साथ किया जाता, तो हमें कष्ट होता।

हम कोई काम आत्मा की आवाज को मारकर नहीं करें, आत्म-विश्वास के साथ करें और विचार रखते हुए करें कि हम शरीर-मात्र नहीं, अजर-अमर एवं शाश्वत आत्मा हैं।

निष्कर्ष यह कि हमारा प्रत्येक आचरण जब (1) वेदानुकूल = विश्वधर्म अर्थात् परमात्मा के कानून या आज्ञा के अनुकूल, (2) स्मृति-सम्मत = राष्ट्रधर्म या राष्ट्र के संविधान के अनुकूल, (3) सामाजिक सदाचार = समाज-धर्म या सामाजिक शिष्टाचार के अनुकूल, तथा (4) हमारी आत्मा के अनुकूल अर्थात् सभी प्राणियों को आत्मवत् समझकर किया गया हो, तब वह धर्माचरण कहलायेगा। इस प्रकार के धर्माचरण से ही ऐहिक (लौकिक) और पारलौकिक उन्नति होकर आत्मविकास, सामाजिक अभ्युदय, राष्ट्रीय समुन्नति और विश्व-कल्याण या विश्व-शान्ति सम्भव है।

मनुस्मृति-माहात्म्य—जैसा कि हमने अभी विचार किया, धर्माचरण की कसौटी के रूप में श्रुति (वेद) के पश्चात् स्मृति-प्रमाण का महत्व

स्वीकार किया गया है। पर स्मृतियाँ तो अनेक हैं, तब किसको प्रामाण्य माना जाये?

उत्तर सीधा है। हम अभी निवेदन कर चुके हैं कि स्मार्त या राष्ट्रधर्म, वेद अर्थात् विश्वधर्म का अनुवर्ती होना चाहिए। इस कसौटी पर सिर्फ मनुस्मृति ही वेदानुकूल होने से सर्वाधिक प्राामणिक है। यह ठीक है कि मनुस्मृति आर्यावर्तीय महापुरुष की कृति होने से मुख्यतया आर्यावर्तीय जनों के लिए है, किन्तु यह आद्य-स्मृति होने से सारे संसार के सभी कालों के मानवों के लिए भी समान रूप से उपयोगी है। इसकी इसी व्यापकता और सर्वहितकारिता के विचार से ही मनीषियों ने इसे 'मानव-धर्मशास्त्र' कहा है।

आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने प्रामाणिक ग्रन्थों की सूची में प्रक्षिप्त अंशों को छोड़ने के पश्चात् मनुस्मृति के आर्ष-भाग को ही प्रमाण के योग्य माना है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में सर्वाधिक प्रमाण भी 'मनुस्मृति' के ही दिये हैं। 'सत्यार्थप्रकाश' में लगभग 400, संस्कारविधि में 175 और 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में उन्होंने लगभग 20 प्रमाण मनु के दिये हैं काशी-शास्त्रार्थ में पं० ताराचरण तर्करत्न द्वारा 'मनुस्मृति' की वेद-मूलकता पूछे जाने पर स्वामी जी ने कहा था कि—"सामवेद के ब्राह्मण में कहा गया है कि जो कुछ मनु ने कहा है वह औषधों का भी औषध है।" पाठकों से यह भी अविदित नहीं है कि महर्षि अपने जीवन के सन्ध्याकाल में जब राजस्थान के नरेशों को शास्त्रों की शिक्षा दे रहे थे, तब उनके पाठ्यक्रम में 'मनुस्मृति' का विशिष्ट स्थान था।

वैदिक साहित्य में महत्त्व एवं प्रामाण्य—प्राचीन शास्त्रों एवं वैदिक साहित्य में भी 'मनुस्मृति' के महत्त्व को एकमत से स्वीकार किया गया है। ऊपर सामवेद के जिस ब्राह्मण का उल्लेख हुआ है वह है छान्दोग्य ब्राह्मण और उसमें लिखा है—'मनुर्वै यत्किञ्चिदवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः'। इसी प्रकार मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने एक बृहस्पति को भी उद्धृत किया है जो मनु का प्रशस्तिपाठ करते हुए लिखता है—

वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनो स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृति सा न शस्यते॥

तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च।
धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते॥

अर्थात्—'वेदार्थ से युक्त होने के कारण मनुस्मृति प्रधान है। मनु के अर्थ के विपरीत जो स्मृतियाँ हैं वे प्रशंसनीय नहीं हो सकतीं। तर्क, व्याकरण तथा अन्य शास्त्र तभी तक शोभा प्राप्त करते हैं जब तक कि धर्म, अर्थ और मोक्ष के उपदेष्टा मनु के दर्शन नहीं होते।' महाभारत में भी कहा गया है—

पुराणं मानवो धर्मः सांगो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धान्ति चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

अर्थात्—पुराण (शतपथ आदि), मानवधर्मशास्त्र, सांग वेद, इन्हें हेतु या तर्क के द्वारा क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए।

स्वयं 'मनुस्मृति' की अन्तःसाक्षी भी इस कथन को प्रामाणित करती है। 'मनुस्मृति' में लिखा है—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ *(2/9)*

अर्थात्—'मनु ने जिस किसी को भी कुछ धर्म कहा है वह सब वेद के अनुकूल ही है, क्योंकि वेद सर्वज्ञानमय हैं।' इसी के आधार पर ब्राह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राम मोहनराय ने लिखा था—"Whatever law is inconsistent with the code of Manu, which is the Substance of the Veda, is really inconsistent with Veda itself and therefore inadmissible." अर्थात् 'मनु की विधि (जो कि वेदों का सार है) के विपरीत जो भी नियम आदि हैं, वे वेद के अनुकूल न होने के कारण अग्राह्य हैं।'

आर्यों के लिए श्रुति और स्मृति, यही दोनों मुख्य प्रमाण माने जाते हैं। श्रुति स्वतःप्रमाण है, और स्मृति परतःप्रमाण। यही बात कवि कालिदास ने 'रघुवंश' में उपमा के रूप में दी है—

श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।

अर्थात्—'स्मृति श्रुति का अनुकरण करती है।' मेधातिथि ने मनुभाष्य के आरम्भ में लिखा है—

ऋचो यजूँषि सामानि मन्त्रा आथर्वणश्चये।
महर्षिभिस्तु तत् प्रोक्तं स्मार्तस्तु मनुरब्रवीत॥

अर्थात् 'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का उपदेश ऋषियों ने किया था, परन्तु स्मार्त धर्म (स्मृति) का उपदेश 'मनु' ने किया। महाभारत शान्ति-पर्व में लिखा है कि—

ऋषीनुवाच तान् सर्वानदृश्यः पुरुषोत्तमः।
कृतं शत-सहस्त्रं हि श्लोकानामिदमुत्तमम्॥
लोकतन्त्रस्य कृत्स्नस्य यस्माद् धर्मः प्रवर्तते।
तस्मात् प्रवक्ष्यते धर्मान् मनुः स्वायंभुवः स्वयं।
स्वायंभुवेषु धर्मेषु शास्त्रं चौशनसे कृते॥
बृहस्पतिमते चैव लोकेषु प्रतिचारिते॥

अर्थात्—'निराकार परमात्मा ने उन ऋषियों को शत-सहस्र श्लोकों का उत्तम ज्ञान दिया जिस पर संसार का समस्त धर्म स्थित है। स्वायंभुव मनु ने स्वयं इन धर्मों का उपदेश किया। मनु के उस उपदेश के आधार पर ही बृहस्पति और उशनस ने अपनी-अपनी स्मृतियाँ बनाईं।'

'मनुस्मृति' की प्राचीनता—जितनी स्मृतियाँ आजकल मिलती हैं उनमें 'मनुस्मृति' सबसे प्राचीन है। विश्वरूप ने जो याज्ञवल्क्य-स्मृति पर टीका लिखी है, उसमें दो सौ के लगभग उन्हीं श्लोकों को उद्धृत किया है जो इस समय 'मनुस्मृति' में मिलते हैं। श्री शंकराचार्य ने अपने वेदान्त-भाष्य में मनुस्मृति के बहुत-से श्लोकों का उल्लेख किया है। वेदान्त 3।1।14 'स्मरन्ति च' सूत्र की व्याख्या में वे लिखते हैं—

मनुव्यासप्रभृतयः शिष्टाः।

अर्थात्—'मनु और व्यास आदि शिष्ट पुरुषों के कथन स्मृति के अन्तर्गत आते हैं।' कुमारिल की 'तन्त्रवार्तिक' तो मनु के आधार पर ही है। कुमारिल ने 'मनुस्मृति' को न केवल सब स्मृतियों से ही, अपितु गौतम-सूत्रों से भी अधिक विश्वसनीय और माननीय स्वीकार किया है।

अपरार्क ने याज्ञवल्क्य-स्मृति के श्लोक 2। 21 की व्याख्या करते हुए भी पहले श्लोक का उद्धरण दिया है। अश्वघोष की वज्रसूची में 'मानव-

धर्म' से कई श्लोक लिये गये हैं जो वर्तमान 'मनुस्मृति' के ही हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो इसमें नहीं मिलते।

वाल्मीकीय रामायण, किष्किन्धाकाण्ड 18। 30, 32 में 'मनुस्मृति' के निम्न दो श्लोकों का उल्लेख है जो आठवें अध्याय में (319, 317) हैं—

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥
शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेनाद्विमुच्यते।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम्॥

भारत के बाहर मनु का प्रभाव : पी०वी० काने ने अपनी पुस्तक History of Dharmashastra में लिखा है कि मनुस्मृति का प्रभाव भारत के बाहर भी पाया जाता है। वे लिखते हैं—

"The influence of the Manusmiriti spread eve beyond the confines of India. In A. Bergigne's Inscriptions Sanscrites de campa et du Cambodge [p.423] we have an inscription in which occur verses one of which is identical with Manu (ii, 136) and the other is a summary of Mau [iii 77-80]. The Burmese are governed in modern times by the dhamma that, which are based on Manu. Vide Dr. Ferchhammer's Essay on Sources ad Development of Burmese Law (1885, Rangoon) Dr. E.C.G. Jonker (Leyden 1885) wrote a disseration on an old Javanese lawbook compared with Indian sources of law like the Manusmriti (which is still used as a lawbook in the island of Bali)."

अर्थात्—'ब्रह्मदेश और बाली द्वीप के धर्मशास्त्र 'मनुस्मृति' से बहुत-कुछ सादृश्य रखते हैं। एक प्रस्तर-लेख में दो श्लोक दिये हैं जिनमें से एक तो ज्यों-का-त्यों 'मनुस्मृति' का है, दूसरा मनु के एक श्लोक का सार-मात्र है।' वे श्लोक निम्न हैं—

आचार्यवद्गृहस्थोऽपि माननीयो बहुश्रुतः।
अभ्यागतगुणानां च परा विद्येति मानवम्॥

3। 77–80 का सार

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद् यदुत्तरम्॥

—2। 136

ब्रह्मदेश तथा भारत के निकटस्थ टापुओं में तो भारत की सभ्यता ही प्रचलित थी। अतः इनकी पुस्तकों में 'मनुस्मृति' का सादृश्य मिलना आश्चर्यजनक नहीं है। परन्तु इतना अवश्य सिद्ध होता है कि 'मनुस्मृति' उस समय भी महत्वपूर्ण थी जब इन टापुओं का भारतवर्ष से घनिष्ठ सम्बन्ध था।

(3) मनु और 'मनुस्मृति'—मानव-धर्मशास्त्र का वैदिक साहित्य में बहुत गौरव है। आर्य जाति की सभ्यता का मानव-धर्मशास्त्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है। हम चाहे 'मनु' या 'मनुस्मृति' के विषय में पूछे गये अनेक प्रश्नों का समाधान न कर सकें, तो भी यह अवश्य मानना पड़ा है कि मनु अवश्य ही कोई महापुरुष था जिसके उपदेश आर्य-सभ्यता के निर्माण तथा जीवनस्थिति के लिए बड़े साधक सिद्ध हुए और उन पर विद्वानों की अब तक श्रद्धा चली आती है।

मनु कौन थे ?—यह मनु कौन थे, यह कहना कठिन है। जिस प्रकार उपनिषत्कारों तथा दर्शनकारों के विषय में बहुत कम ज्ञात है, उसी प्रकार 'मनु' के विषय में भी कुछ विशेष ज्ञान नहीं है। वह राजा थे या ऋषि थे? तपस्वी थे या गृहस्थी थे? इस विषय में हम कुछ नहीं जानते। कहीं-कहीं तो मनु को केवल धर्मशास्त्र का रचयिता बताया गया है और कहीं-कहीं समस्त सृष्टि की उत्पत्ति ही मनु से बतायी गयी है। आर्य जैसी प्राचीन जाति के साहित्य में इस प्रकार की कठिनाइयों का होना स्वाभाविक भी है। 'शतपथ ब्राह्मण' (13। 4। 3। 3) में आता है—

मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह तस्य मनुष्या विशः।

अर्थात्—'मनु वैवस्वत राजा है और मनुष्य उसकी प्रजा हैं।'—इससे प्रतीत होता है कि मनु वैवस्वत कोई राजा था। यह भी सम्भव है कि राजा

को ही यहाँ विशेष गुणों के कारण मनुवैवस्वत कहा है।

मेधातिथि ने अपने भाष्य के आरम्भ में मनु के विषय में लिखा है—

मनुर्नाम कश्चित् पुरुषविशेषोऽनेकवेदशाखाऽध्ययनविज्ञाना-नुष्ठानसम्पन्नः स्मृतिपरम्परा प्रसिद्धः।

अर्थात्—'मनु कोई पुरुष-विशेष था जो वेदों की अनेक शाखाओं को पढ़कर धर्मानुष्ठान तथा स्मृति-परम्परा के लिए प्रसिद्ध हो गया।'

यह एक हानि-शून्य कथन है और इतना मानने में किसी को भी संकोच नहीं हो सकता, क्योंकि जिस मनु की इतनी प्रसिद्धि है वह अवश्य ही कोई विद्वान् पुरुष रहा होगा और उसने वेदाचार और लोकाचार का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया होगा।

प्रचलित 'मनुस्मृति' का कर्त्ता : मनु के विषय में इतना कहकर अब 'मनुस्मृति' पर आना चाहिए। प्रश्न यह है जो मनु इतना प्रसिद्ध है, क्या प्रचलित 'मनुस्मृति' भी उसी की बनायी है? यदि नहीं, तो मनु के विषय में इतना राग अलापने का क्या अर्थ? हमारा ऐसा मत है कि वर्तमान 'मनुस्मृति' में मनु के विचार तो हैं, मनु के शब्द नहीं। मानते भी सब ऐसा ही हैं। जिसको लोग 'मनुस्मृति' कहते हैं उसका नाम है भृगुसंहिता। कहते हैं कि इसको भृगु और उनके शिष्यों ने श्लोकबद्ध किया। 'मनुस्मृति' में भी लिखा है—

एतद् वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः॥
ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः।
तानब्रवीदृषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति॥

इन श्लोकों के आगे-पीछे के जो श्लोक हैं उनका मिलान करने से यह निश्चय करना कठिन है कि यह संहिता भृगु की ही बनायी हुई है। परन्तु एक बात निश्चित है, अर्थात् 'मनुस्मृति' आजकल जिस रूप में मिलती है और जिसको भृगु-संहिता कहते हैं यह भी कोई नवीन पुस्तक नहीं है।

भृगुसंहिता के कर्त्ता कौन थे? : यह भृगुसंहिता भृगु की बनायी है या अन्य किसी की—इस विषय में भी विद्वानों में विवाद है। मनु की स्वयं

बनायी तो हो ही नहीं सकती। इतना तो 'मनुस्मृति' के पहले श्लोक से ही विदित है—

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः।
प्रतिपूज्य यथा न्यायमिदं वचनमब्रुवन्॥

अर्थात्—'जब मनु महाराज एकान्त में बैठे हुए थे तो महर्षियों ने सत्कारपूर्वक आकर उनसे उपदेश के लिए प्रार्थना की। यदि मनु स्वयं लिखनेवाले होते तो इस प्रकार आरम्भ न होता।

इस पर कहा जा सकता है कि अन्य स्मृतियों का भी तो आरम्भ इसी प्रकार हुआ है। जैसे—

योगेश्वरं याज्ञवल्क्यं सम्पूज्य मुनयोऽब्रुवन।
वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति)

हुताग्निहोत्रमासीनमत्रिं वेदविदांवरम्।
सर्वशास्त्रविधिज्ञं तमृषिभिश्च नमस्कृतम्॥
नमस्कृत्य च ते सर्वं इदं वचनमब्रुवन्।
हितार्थं सर्वलोकानां भगवन् कथयस्व नः॥

(अत्रिस्मृति)

विष्णुमेकाग्रमासीनं श्रुतिस्मृतिविशारदम्।
पप्रच्छुर्मुनयः सर्वे कलापग्रामवासिनः॥

(विष्णुस्मृति)

इष्ट्वा क्रतुशतं राजा समाप्तं वर दक्षिणम्।
भगवतं गुरुं श्रेष्ठं पर्यपृच्छद् बृहस्पतिम्॥

(बृहस्पतिस्मृति)

हमारा विचार यह है कि याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों के नाम से जो स्मृतियाँ पीछे बनायी गईं, वे मनुस्मृति का अनुकरण मात्र थीं। भारतीय साहित्य में एक ऐसा युग आ चुका है जब लोग अपनी बनायी हुई चीजों को पूर्व-आचार्यों और ऋषियों के नाम से प्रचलित कर देते थे जिससे सर्वसाधारण में उनका मान हो सके। भारतवर्ष में जब बौद्ध, जैन आदि अवैदिक मतों का प्रचार हुआ और जब वेदों का पुनरुद्धार करने के लिए

पौराणिक मत ने जोर पकड़ा, तो ऐसी प्रवृत्ति बहुत बढ़ गयी। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' के बनानेवाले याज्ञवल्क्य कौन हैं—यह कहना कठिन है। आरम्भिक श्लोक से तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह वही याज्ञवल्क्य हैं जिनका उल्लेख शतपथ-ब्राह्मणादि ग्रन्थों में पाया जाता है। 'मनुस्मृति' के अनुकरणार्थ ही उसका आरम्भ उसी प्रकार के श्लोक से कर दिया गया। यही दशा अन्य स्मृतियों की है जो बड़े-बड़े नामों से सम्बन्धित कर दी गयी हैं। परन्तु 'मनुस्मृति' के विषय में यह माना जा सकता है कि मनु महाराज के उपदेशों को भी भृगु या अन्य किसी विद्वान् ने छन्दोबद्ध कर दिया हो।[1] प्राचीनकाल में उपदेष्टा मौखिक उपदेश दिया करते थे और पीछे से उसके अनुयायी सर्वसाधारण के लाभार्थ उन भावों को छन्दों का रूप दे देते थे। यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) लिखता नहीं था। उसके उपदेश उसके शिष्यों ने लेखबद्ध किये। महात्मा बुद्ध के जो उपदेश 'धम्मपद' में मिलते हैं वे बुद्ध के शब्द नहीं हैं; न बुद्ध श्लोक बनाकर उपदेश देते थे। यह तो बौद्ध शिष्यों ने पीछे से बना दिये।

'मानव-धर्मसूत्र' और 'मनुस्मृति' का सम्बन्ध : यहाँ यह प्रश्न रह जाता है कि क्या मनु के उपदेश आरम्भ से ही इस रूप में थे? इस विषय में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की गयी हैं। कुछ लोगों का मत है कि पहले सूत्र-रूप में था। पीछे से इसको श्लोकों का रूप दिया गया और इस रूप के देने वाले भृगु ऋषि हैं।

हम ऐतिहासिक झमेलों को विद्वान् अनुसन्धानकर्ताओं के लिए छोड़ते हैं। यहाँ हम केवल अपनी धारणा प्रकट करते हैं। वह यह है कि—

---

1. मनुस्मृति का मूल प्रवक्ता मनु स्वायम्भुव है। मनुस्मृति में और समस्त प्राचीन साहित्य में मनु को ही धर्मप्रवक्ता कहा गया है और जितने उद्धरण मिलते हैं वे मनु स्वायम्भुव के नाम से हैं। अन्य मनुओं का नाम मनुस्मृति के साथ भ्रान्ति से जुड़ गया है और भृगु का नाम किसी ने अपनी प्रसिद्धि के लिए बलात् जोड़ा ज्ञात होता है। यह निश्चित है कि मनु के प्रवचनों को छन्दोबद्ध उनके किसी शिष्य ने किया है। उससे मनुस्मृति की मौलिकता में कोई अन्तर नहीं आता। इस विषयक विस्तृत विवेचन देखिए सम्पादककृत भाष्ययुक्त मनुस्मृति की भूमिका में 'मनुस्मृति का मूल प्रवक्ता कौन?' शीर्षक समीक्षा।—सम्पादक

1. मनु के उपदेश पहले किसी गाथा-रूप में थे।
2. फिर मानव-धर्मसूत्रों के रूप में आये।
3. फिर वर्तमान 'मनुस्मृति' के रूप में परिवर्तित हो गये।
4. यह 'मनुस्मृति' भी बहुत ही प्राचीन है।
5. पीछे से इस 'मनुस्मृति' में बहुत-से क्षेपक बढ़ा दिये गये।

(4) 'मनुस्मृति' में प्रक्षिप्तांश—यह एक सच्चाई है कि रामायण, महाभारत, गीता और महान् ग्रन्थों की भाँति ही 'वाम मार्ग काल' और 'पौराणिक काल' में मानव-जाति के शत्रुओं के हाथों स्वार्थवश या अज्ञानवश इस महान् ग्रन्थ में पर्याप्त प्रक्षेप किया गया है।

महात्मा बुद्ध के कुछ पहले जब शुद्ध वैदिक धर्म में विकराल विकृति उत्पन्न हो गयी थी और महात्मा बुद्ध के कुछ पीछे जब अवैदिक बौद्ध मत और वैदिक-पौराणिक मत में घमासान युद्ध हुआ, तब भिन्न-भिन्न उद्देश्य रखनेवाले साम्प्रदायिक विद्वान् मनमानी कतरनी चलाते रहे। जहाँ जो चाहा मिला दिया और जहाँ से जो चाहा निकाल दिया। इसने वैदिक सिद्धान्तों में बड़ी गड़बड़ मचा दी।

समय का प्रभाव प्रत्येक वस्तु पर पड़ता है। जो मकान बनाया जाता है वह कितना ही सुदृढ़ क्यों न हो, वायु, धूप तथा जल का उस पर कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता ही है। प्रत्येक मकान की आकृति को देखकर आप बता सकते हैं कि समय ने उसमें कितना परिवर्तन किया है। पहले पानी दीवारों पर धब्बे डाल देता है। फिर घर का स्वामी उस पर पुताई कर देता है। फिर वर्षा आती है और कुछ भाग धुल जाता है। फिर घरवाले चूने की एक बारीक तह और लगा देते हैं। इस प्रकार प्रत्येक दीवार पर पपड़ियाँ पड़ जाती हैं। कभी-कभी दीवारों को खुरचकर नये सिरे से पुताई कर दी जाती है। परन्तु फिर भी उसको मौलिक दीवार नहीं कह सकते। ये सब आदि से अन्त तक क्षेपक ही होते हैं। इसी प्रकार पुस्तकों का हाल है। जो पुस्तकें साधारण मनोरंजन की हैं, उनमें लोग बहुत कम हस्तक्षेप करते हैं और वह भी जान-बूझकर नहीं। उनके क्षेपक इस प्रकार के होते हैं कि कहीं तो लेखकों के प्रमाद के कारण शब्द छूट गया या कोई पंक्ति रह गयी, या कभी-कभी ऊपर की आधी पंक्ति के साथ मिल गयी। कभी-कभी शब्द के

छूट जाने पर पीछे आनेवाले लोगों ने संशोधन के उद्देश्य से अपनी ओर से कोई ऐसा शब्द जोड़ दिया, जो खप सके। इस प्रकार पर्याय आते रहते हैं। इस प्रकार ये क्षेपक तो होते हैं, परन्तु किसी को हानि नहीं पहुँचाते। परन्तु धार्मिक पुस्तकों के क्षेपक बड़े भयानक होते हैं। उनका उद्देश्य ही दूसरा होता है। जब किसी देश में धार्मिक विप्लव होते हैं, तो सबसे पहले धर्मग्रन्थों पर आक्रमण होता है। कोई धर्मसंस्थापक आज तक सर्वथा नया धर्म स्थापित नहीं कर सका। हर एक कहता है कि मैं वही बात कहता हूँ जो पूर्व से चली आई है। ऐसा कहने पर दो दल हो जाते हैं और धर्मग्रन्थ दोनों दलों के हाथ में मोम की नाक बन जाते हैं। 'मनुस्मृति' जैसे ग्रन्थ में यह बात बहुत सुगम थी। अनुष्टुभ् छंद है। फिर दैनिक व्यवहार की बातें सरल-से-सरल भाषा में लिख दी गयी हैं। इसमें मिलावट कौन कठिन थी?

पहले एक सिद्धान्त के निषेध में एक श्लोक मिलाया गया, इसको हम आक्रमण (attack) कह सकते हैं। फिर उसके विरोधियों ने मौलिक सिद्धान्त की पुष्टि में आगे एक श्लोक मिला दिया। इसको प्रत्याक्रमण (Counter-attack) कहना चाहिए। इस प्रकार आक्रमण-प्रत्याक्रमणों का ताँता बँध गया और अनेक स्थलों पर बहुत-से क्षेपक बढ़ गये। कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ कि विधि या निषेध की व्याख्या करने के लिए अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा में श्लोक बढ़ाये गये जिनका धर्मशास्त्र जैसे ग्रन्थ में लिखना उचित प्रतीत नहीं होता। ऐसे स्थल भी कई हैं जैसे ब्रह्मविवाह की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए लिख दिया कि इस प्रकार उत्पन्न हुई सन्तान से दस पीढ़ियाँ अगली, दस पिछली और एक वर्तमान—इक्कीस पीढ़ियाँ तर जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मविवाह श्रेष्ठतम है, परन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं कि उससे इक्कीस पीढ़ियाँ तर जायें।

यह 'अतिवाद' अन्य कई स्थलों में, मुख्यतया शौच प्रकरण में (5/136-145) में स्पष्ट दीख पड़ता है।

परस्पर-विरोधिता—क्या मनुस्मृति में क्षेपक हैं? हाँ, अवश्य हैं। कोई निष्पक्ष विद्वान् इसको मानने में संकोच नहीं कर सकता। इसके प्रमाण पुष्कल हैं। हाँ, यह सम्भव है कि इस विषय में मतभेद हो कि कितना

क्षेपक है और कितना मौलिक। सबसे पहली बात तो यह है कि परस्पर-विरोध बहुत है जिसको भाष्यकारों की प्रतिभा-सम्पन्न आलोचना भी दूर नहीं कर सकती। हम यहाँ 'मनुस्मृति' के दो श्लोक उल्लेख करते हैं—

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः॥ *(3/12)*
शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥ *(3/13)*

यहाँ ब्राह्मण को शूद्र भार्या विवाहने का पूरा अधिकार है। परन्तु इससे अगले ही श्लोक में बलपूर्वक इसका निषेध किया गया है—

न ब्राह्मण क्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्य्योपदिश्यते॥ *(3/14)*

इसके आगे चार और श्लोक हैं जिनमें इसी बात पर बल दिया गया है कि कोई द्विज अपने से नीचे वर्ण की स्त्री से विवाह न करे। यहाँ तक कि आपात्काल में भी आज्ञा नहीं है।

इन दो विरोधों का समन्वय हो ही नहीं सकता।

(2) मनु० (3/12) में आठ प्रकार के विवाह सम्बन्धों का उल्लेख है—

ब्राह्मणो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैवं पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

अर्थात्—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच।

इसके पश्चात् 3/27 से 3/34 तक इनके लक्षण दिये हैं। फिर 3-39 से 3-42 तक यह बताया है कि पहले चार अर्थात् ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, श्रेष्ठ और 'शिष्टसम्मत' हैं, शेष चार विवाह कुत्सित हैं। उनकी सन्तान झूठी और 'ब्रह्मधर्मद्विषः' होती है। इसलिए अनिन्दित अर्थात् चार प्रकार के विवाह की ही आज्ञा है। शेष चार असुर, गन्धर्व, राक्षस और पैशाच 'निन्द्य' हैं। इसलिए 'निन्द्यन् विवर्जयेत्—इनको नहीं करना चाहिए। हमारी समझ में मनु महाराज की यही निज सम्मति है।

परन्तु नीचे के श्लोक सर्वथा इसके विरुद्ध हैं—

षडानुपूर्व्या विप्रस्य, क्षत्रस्य चतुरोऽवरान्।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद् धर्म्यानराक्षसान्॥ *(3/23)*

यहाँ पहले छह अर्थात् ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर और गान्धर्व को ब्राह्मणों के लिए धर्मानुकूल बताया। पिछले चार अर्थात् आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच को क्षत्रियों के लिए 'धर्म' बताया। वैश्य और शूद्रों के लिए राक्षस-विवाह को छोड़कर आसुर, गान्धर्व, और पैशाच को धर्म ठहराया गया। यह बात न केवल 3/41 से ही सर्वथा विरुद्ध है, किन्तु आश्चर्यजनक भी है। क्षत्रियों को पहले चार विवाहों की आज्ञा क्यों नहीं? उनको शेष चार ही क्यों हैं? पैशाच विवाह में क्या गुण हैं कि क्षत्रियों के लिए यह अच्छा है और वैश्य और शूद्रों के लिए बुरा? कोई बुद्धिमान पुरुष पैशाच विवाह को किसी के लिए भी अच्छा नहीं बता सकता। फिर क्षत्रिय राजाओं पर क्या कृपा हो गयी कि उनके विवाह के लिए कोई नियम ही नहीं रखा गया, सभी कुछ विहित बता दिया गया? क्या इसके क्षेपक होने में कोई सन्देह हो सकता है? क्या किसी राजा के उच्छृंखल व्यवहार को 'धर्म' बताने के लिए ही तो यह करतूत नहीं की गयी? फिर गान्धर्व विवाह तो व्यभिचार से कम नहीं, परन्तु इसकी ब्राह्मणों को छोड़कर सभी को आज्ञा है। राजा दुष्यन्त जब शकुन्तला पर आसक्त हो जाता है तो वह मनुस्मृति का प्रमाण देकर ही एकान्त-प्रसंग करने के लिए उसको बाधित करता है। राजे लोग 'मनुस्मृति' के इस हथियार को पाकर क्या-कुछ नहीं कर सकते?

यही नहीं, इससे अगला श्लोक तो इसके भी विरुद्ध है—

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः॥ *(3/24)*

''विद्वानों का कहना है कि पहले चार विवाह ब्राह्मण के लिए प्रशस्त हैं। क्षत्रिय के लिए एक राक्षस-विवाह। वैश्य और शूद्र के लिए एक आसुर-विवाह है।''ये सभी बातें ठीक हो सकती हैं? राक्षस-विवाह में क्या विशेषता है कि यह एकमात्र क्षत्रिय के लिए प्रशस्त बताया गया। इससे अगले दो श्लोक भी देखिए—

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन॥ *(3/25)*
पृथक् पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ॥ *(3/26)*

कभी कुछ और कभी कुछ। कोई बुद्धिमान् पुरुष ऐसी बहकी-बहकी बातें न कहेगा। थोड़ा-सा भी ध्यान देने से विदित होता है कि 3/23 से लेकर 3/26 तक चार श्लोक मिला दिये गये। इसी प्रकार 3/36, 37, 38 भी बेतुके जोड़े गये हैं और उनमें इक्कीस-इक्कीस पीढ़ियों के तरे की मन को लुभाने वाली बातें बताई गयी हैं। यह मिलावट ऐसा पैबन्द है जो दूर से चमकती है; रफूगरी ऐसी भद्दी रीति से की गयी है कि समस्त कपड़ा भद्दा दीखने लगता है।

(3) अध्याय 9 के 59 से 63 तक चार श्लोकों में 'नियोग' की आज्ञा है और 63वें श्लोक में कहा गया है कि 'नियोग विधि' को त्यागकर जो अन्यथा व्यवहार करते हैं वे पतित हो जाते हैं। परन्तु 65 से 68 तक नियोग का निषेध है। 59 से 69 तक ये ग्यारह श्लोक पढ़ने से तुरन्त ही पता चल जाता है कि कुछ दाल में काला है। महाशय पी० वी० काणे कहते हैं—In one breath Manu seems to permit niyoga (9/59-63) and immediately afterwards he strongly reprobates it, (9/64-69) 66वें श्लोक में वेन राजा की कथा देने से यही प्रकट होता है कि पीछे से ये श्लोक जोड़ दिये गये।

(4) अध्याय 5 में मांस-भक्षण का सर्वथा निषेध है—

नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥ *(5/48)*
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥ *(5/49)*

यहाँ न केवल मांस का निषेध ही है, किन्तु प्रबल युक्ति भी दी गयी है अर्थात् बिना प्राणियों की हिंसा किये मांस मिलता ही नहीं और प्राणियों की हिंसा स्वर्ग का साधन नहीं, इसलिए मांस वर्जनीय ही है। इस युक्ति के अनुसार न केवल साधारण मांस-भक्षण का ही निषेध है, किन्तु यज्ञ में भी

मांस डालना या खाना निन्दित है, क्योंकि यज्ञ में बलि देने से भी तो प्राणियों की हिंसा होती है। फिर आगे चलकर मांस का सर्वथा ही निषेध किया है—

अनुमन्ता विशासिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥ *(5/51)*

अर्थात् 'मांस खाने वाले को ही हिंसा का पाप नहीं लगता, किन्तु उसमें मारने वाला, बेचनेवाला, खरीदनेवाला, पकानेवाला आदि सभी सम्मिलित हैं।' इन स्पष्ट श्लोकों के होते हुए भी आगे के श्लोकों में मांस का विधान है—

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येष दैवो विधिः स्मृतः।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते॥ *(5/31)*

अर्थात् 'यज्ञ में मांस डालना 'दैव-विधि' है और बिना यज्ञ के मांस की प्रवृत्ति 'राक्षस विधि' है।' क्या बिना प्राणियों को हिंसा पहुँचाये यज्ञ में मांस डाला जा सकता है? यदि नहीं तो 'दैव विधि' और 'राक्षस विधि' में क्या भेद? इसी प्रकार 5/32 से 5/42 तक ऊटपटाँग बातें बताई गयी हैं। 5/40 में विचित्र युक्ति दी गयी है कि—

यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः।

अर्थात् 'जो पशु-पक्षी यज्ञ के लिए मारे जाते हैं उनको दूसरे जन्म में उत्कृष्ट योनि मिलती है।' इसी प्रकार श्राद्ध में भी भिन्न-भिन्न पशुओं के वध का उल्लेख है। (देखो अध्याय 3/268, 269)

ये हैं कुछ वे स्थल जिनमें परस्पर-विरोध होने के कारण मानना ही पड़ेगा कि इनमें से एक मौलिक है और दूसरा क्षेपक, क्योंकि दो परस्पर-विरोधी बातें किसी एक ग्रन्थकार का मन्तव्य नहीं हो सकतीं।

वेद-विरोधिता—पाठकगण प्रश्न कर सकते हैं कि हमारे पास मिलावट जाँचने की कौन-सी तराजू है? इसलिए इस विषय में संक्षेप से कुछ लिख देना असंगत न होगा। 'मनुस्मृति' कोई असम्बद्ध, स्वतन्त्र पुस्तक नहीं। यह वैदिक साहित्य का एक ग्रन्थ है। वैदिक धर्म का प्रतिपादन ही इसका कार्य है। वेद ही इसका मूलाधार है। यह बात कल्पित नहीं है, किन्तु 'मनुस्मृति' से ही सिद्ध है। नीचे के श्लोक इसकी साक्षी हैं—

(1) वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। *(2/6)*

(2) वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। *(2/12)*

(3) प्रमाणं परमं श्रुतिः। *(2/13)*

(4) वेदास्त्यागश्च.... *(2/19)*

(5) वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥ *(2/16)*

(6) वेद यज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु।
ब्रह्मचर्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यःप्रयतोऽन्वहम्॥ *(2/18)*

(7) वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्॥ *(3/2)*

(8) वेदभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि॥ *(11/245)*

(9) आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
स्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ *(12/106)*

कई सहस्र वर्षों से वैदिक धर्म में विप्लव उत्पन्न हो गये और सबसे अधिक चोट वैदिक ग्रन्थों पर आई। किन्तु प्राचीन वैदिक धर्म के सिद्धान्त एक ऐसी कसौटी हैं, जिनके द्वारा वैदिक ग्रन्थों की मिलावट अधिकांश में कसी जा सकती है।

हम 'मनुस्मृति' की वेद-विरोधी मिलावटों को चार भागों में विभक्त करते हैं—

(1) मांस-भक्षण सम्बन्धी क्षेपक—ऊपर बताया जा चुका है कि मनुस्मृति का मौलिक सिद्धान्त अहिंसा है। वेद में अहिंसा पर विशेष बल दिया गया है।

यजुर्वेद कहता है—

मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। यजु०

अर्थात्—'प्रत्येक प्राणी को मित्र की दृष्टि से देखना चाहिए।' न केवल वैदिक किन्तु सभी धर्मों का आधार अहिंसा होनी चाहिए। यदि मनुष्य दूसरों को कष्ट पहुँचाने में संकोच न करे तो सदाचार के किसी भाग का पालन नहीं कर सकता। 'मनुस्मृति' ने इस बात को बहुत स्पष्ट रीति से कहा है, इसलिए जहाँ कहीं पशु-वध का विधान है, वह सब मिलावट है।

कुछ लोग समझते हैं कि यज्ञों में पशु–बलि विहित है। परन्तु 'मनुस्मृति' के मौलिक सिद्धान्त इस बात की भी पुष्टि नहीं करते। देखिए—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥ *(3/68)*

यहाँ गृहस्थ के पाँच ऐसे पातकों का उल्लेख किया है जो प्रत्येक गृहस्थी को बिना जाने–बूझे करने पड़ते हैं, जैसे—चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली और जल का घड़ा। इनके प्रयोग से छोटे–छोटे कीड़े दबकर मर जाते हैं। गृहस्थियों को यह हिंसा, बिना इच्छा के ही करनी पड़ती है। वे नहीं चाहते कि किसी को पीड़ा दें, परन्तु पहुँच जाती है। जिस धर्म में अनजाने चींटियों के मर जाने से भी मनुष्य दोषी ठहरता हो, उसमें जान–बूझकर किसी को मार डालना कितना बड़ा पाप न होगा? इसी सूना–दोष को मिटाने के लिए एक प्रकार के दैनिक प्रायश्चित्त के रूप में महायज्ञों का विधान है—

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥ *(3/69)*

ये पाँच महायज्ञ ये हैं—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ *(3/70)*

ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, बलिवैश्वयज्ञ और नरयज्ञ। लोग यह समझते हैं कि यज्ञ और पशु–वध का विशेष सम्बन्ध है। यज्ञ का अर्थ ही बहुत लोग मारना समझते हैं, और यही 'बलि' शब्द का अर्थ समझा जाता है। दुर्भाग्य का विषय है कि ये दोनों शब्द अपनी उत्कृष्टता से गिरकर इस अधोगति को पहुँच गये हैं। 'यज्ञ' यज् धातु से निकलता है जिसका अर्थ है देव–पूजा, संगतिकरण तथा दान; इन सबका मारने से क्या सम्बन्ध? कुछ लोग यहाँ तक समझते हैं कि नर–यज्ञ वह यज्ञ है जिसमें मनुष्य को मारकर उसके मांस की आहुति दी जाती है। इन भले आदमियों से पूछो कि क्या इसी प्रकार ब्रह्मयज्ञ में ब्रह्म को मारा जाता होगा और पितृयज्ञ में माता–पिता को? अर्थ का अनर्थ करनेवालों के लिए क्या कहा जाये! नरयज्ञ का पर्याय अतिथि–पूजन'। फिर भी लोग यज्ञ को हिंसा परक समझने लगे तो इसमें बेचारे शब्द का क्या दोष? इसी प्रकार बली का अर्थ है 'भूतयज्ञ' अर्थात्

चींटी–कौवे आदि को भोजन पहुँचाना। इसलिए पितृयज्ञ में पशु–हिंसा करने का विधान स्पष्टतया पीछे की मिलावट है। जिस समय महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार किया उस समय यज्ञों में पशुओं को मारकर चढ़ाना एक साधारण बात थी। इसी अत्याचार से दु:खी होकर महात्मा बुद्ध ने वैदिक यज्ञों का निषेध किया था, क्योंकि वस्तुत: वे यज्ञ वैदिक नहीं रह गये थे। यह वाम–मार्ग अर्थात् उलटे मार्ग का प्रचार था। प्रतीत होता है कि उसी समय या उसके पश्चात् 'मनुस्मृति' में यह मिलावट हुई।

(2) श्राद्ध–सम्बन्धी क्षेपक—मृत पितरों का श्राद्ध, तर्पण आदि—यह दूसरी मिलावट है। ऊपर बताया जा चुका है कि—

पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। *मनु० 3/70*

पितृयज्ञ को तर्पण कहते हैं। साधारण हिन्दू समझता है कि तर्पण मरे पितरों को पानी देने का नाम है। मनु के इस श्लोक से तो 'मृत पितरों' की गन्ध भी नहीं पाई जाती। इसी श्लोक का भाष्य करते हुए कुल्लूक भट्ट लिखते हैं—

'अन्नाद्येनोदकेन वा इति तर्पण वक्ष्यति स पितृयज्ञ:।'

अर्थात् 'तर्पण में अन्न और पानी देने का विधान आगे कहेंगे, यही 'पितृयज्ञ' है'। जिसके विषय में 'वक्ष्यति' (आगे कहेंगे) लिखा है, वह श्लोक यह है—

कुर्यादहरह: श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्य: प्रीतिमावहन्॥ *(3/82)*

अर्थात् 'पितरों को प्रीतिपूर्वक बुलाकर खाना, पानी, दूध, मूल फल से प्रतिदिन श्राद्ध करे।' इस श्लोक के होते हुए कौन कह सकता है कि यहाँ मृत पितरों को रोज बुलाने का विधान है? इन दोनों श्लोकों और कुल्लूक की टिप्पणी को देखकर प्रतीत होता है कि जिसको तर्पण कहते हैं वही श्राद्ध है। एक श्लोक में तर्पण शब्द आया है और दूसरे में श्राद्ध है। बात एक ही है, अर्थात् माता–पिता को प्रीतिपूर्वक बुलाकर उनके खाने–पीने का प्रबन्ध करना। 'अन्नाद्येन उदकेन' का अर्थ 'खाना और पानी' ही हो सकता है। 'अन्नाद्य' वैदिक ग्रन्थों का एक परिचित शब्द है जो इसी अर्थ में आता है। मरे हुए पितरों को प्रीतिपूर्वक बुलाने का कुछ भी अर्थ नहीं। वे आ ही

कैसे सकते हैं? वैदिक सिद्धान्तानुसार तो उनका दूसरा जन्म हो जाता है और जो पुनर्जन्म को नहीं मानते वे भी मृतक आत्मा की कुछ-न-कुछ गति तो मानते ही हैं। उनके मत में भी मृतकों का बुलाना असम्भव है।

मृतक को पिण्डदान की प्रथा का आरम्भ विदेशों से हुआ—मृतकों को खाना-पानी पहुँचाने की प्रथा कहाँ से चली—यह कहना कठिन है। साधारणतया तो यह प्रथा बहुत पुरानी मालूम होती है। दो सहस्र वर्ष से तो अवश्य पुरानी है, इसलिए समस्त तत्कालीन साहित्य में इतस्ततः जिसके उदाहरण मिलते हैं। प्राणी की मृत्यु के बाद आत्मा की क्या गति होती है—इसके विषय में प्राचीन मिस्र आदि देशों की जातियों में भिन्न-भिन्न मत थे। आत्मा के साथ प्रेम करते-करते हमको शरीर से भी प्रेम हो जाता है। यह शरीर का प्रेम ही है जिसके कारण लोगों ने मृतक की लाश का अनेक प्रकार से आदर-सम्मान करने की प्रथा डाल ली। वैदिक सिद्धान्त तो था कि—

'भस्मान्तँ्शरीरम्।' *(यजुर्वेद 40।15)*

अर्थात् 'मरने पर लाश को जला देना चाहिए।'

मनु 2/16 से भी ऐसा ही पाया जाता है। यही सबसे उत्तम रीति थी, क्योंकि पाञ्च-भौतिक शरीर को बिना सड़े-गले अपने कारण में लय कराने की अन्य कोई विधि नहीं है। परन्तु जो लोग मृत्यु के शव को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते थे जैसे बन्दरिया अपने मरे हुए बच्चे को गले से चिपटाये फिरा करती है। शव को सुरक्षित रखने के कई प्रकार प्रचलित हो गये। मिस्र देश में लाश के भीतर मसाला लगाकर शरीर के ऊपरी भाग को सुरक्षित रखने की प्रथा थी। कुछ लोग समझते थे कि मृतक की आत्मा के निमित्त परलोक-यात्रा के लिए खाना-पीना रख देने की आवश्यकता है। जैसे यात्रा पर चलते समय लोग साथ भोजन बाँध लेते हैं, इसी प्रकार लोग लाश के साथ भोजन या पिण्ड रखने लगे।

'पिण्ड' शब्द का मौलिक अर्थ—'पिण्ड' शब्द का मौलिक अर्थ (जीवित के लिए) भोजन तथा जैसा कि नीचे के उदाहरणों से ज्ञात होता है—

1. तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः। स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत् पिण्डामिवामिषस्य॥ *(रघुवंश 2।59)*

2. न शोच्यस्तत्र भवान् सफलाकृतभर्तृ पिण्डः।

(मालविकाग्निमित्र अंक-पाँच)

3. लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं भूमौ निपत्य वदनोदर दर्शनं च। श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते।

(भर्तृहरि नीतिशतक 31)

जब ये लोग लाश के साथ पिण्ड रखते थे तो यह जानने का यत्न नहीं करते थे कि यदि आत्मा यात्रा पर चली गयी, तो भी वह लाश से तो निकल ही गयी। लाश के साथ भोजन रखने से क्या प्रयोजन? आत्मा मरने के पश्चात् कहीं जाये, चाहे नष्ट हो जाये, चाहे अन्यत्र चली जाये, कम से कम इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उसका शरीर के साथ सम्बन्ध टूट गया। जीवन और मृत्यु में क्या भेद है? यही न कि जब तक जीव शरीर के साथ है, जीवन है; जब साथ छूट गया तो मृत्यु हो गयी। इस प्रकार मृतक के शव के साथ भोजन या पिण्ड रखना कुछ अर्थ नहीं रखता। परन्तु मनुष्य में मोह होता है। वह अज्ञानवश मृत्यु के तत्त्व को भूल जाता है और मृतक की लाश से ही प्रेम करने लगता है। कब्रों पर फातिहा पढ़ने की प्रथा भी इसी अज्ञान की द्योतक है। लोग कब्रों पर चद्दर चढ़ाकर समझते हैं कि आत्मा उस कब्र में कहीं चिपटी हुई है। 'पिण्ड' के ये मौलिक अर्थ पीछे से बदल गये और पिण्ड शब्द आटे के उन पिण्डों का अर्थ देने लगा, जो आजकल मृतक के नाम पर दिये जाते हैं।

साधारणतया तीन पीढ़ियों तक श्राद्ध किया जाता है। इससे भी प्रतीत होता है कि जीवित पिता-पितामह आदि के श्राद्ध-तर्पण का ही बिगड़कर यह रूप हो गया है। लिंग-शरीर को इन तीन पीढ़ियों तक ही क्यों लाभ पहुँचता है और लिंग-शरीर इतने दिनों पुनर्जन्म के लिए क्यों ठहरा रहता है—यह एक ऐसी समस्या है जो मृतक-श्राद्ध के ढकोसले को आगे बढ़ने नहीं देती।

पुत्र नरक से कैसे बचाता है?—कुछ लोगों ने 'पुत्र' शब्द की व्युत्पत्ति को मृतक श्राद्ध के पक्ष में लिया है। 'पुत्र' कहते हैं 'पुत्' नाम नरक से जो बचावे। इस पर लोग कहते हैं कि पुत्र जब श्राद्ध करेगा, तभी पिता नरक से बच सकेगा। यदि किसी का पुत्र श्राद्ध नहीं करता तो उसका नरक से त्राण भी

नहीं होने का। परन्तु ऐसी धारणा करनेवाले कर्म के सिद्धान्त को नहीं समझते। मोनियर विलियम्स ने इस विषय में एक चुभता हुआ नोट दिया है—It is wholly inconsistant with the true theory of Hinduism that the Shraddha should deliver a man from the consequence of his own deeds. Manu says 'Iniquity one practised, like a seed fails not to yield its fruit to him that wrought it. (iv 173) but Hinduism bristles with such isconsistancies. (Brahmanism, page 28)

अर्थात् 'यह बात हिन्दू धर्म के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है कि श्राद्ध के द्वारा मनुष्य अपने निज कर्मों के फल से बच सके, क्योंकि मनु ने 4/173 में लिखा है कि एक बार किया पाप बीज के समान फल लाने से नहीं रुक सकता। परन्तु हिन्दू धर्म इस प्रकार के परस्पर-विरोधों से भरा पड़ा है।'' वस्तुतः बात भी ठीक है। जब मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार ही दूसरी योनि पाता है तो उसके पुनर्जन्म को उसकी सन्तान के कर्मों के अधीन कर देना कहाँ का न्याय है?

शायद पाठक कहें कि फिर पुत्र को नरक से बचाने वाला क्यों कहा? क्या निरुक्त में यास्क ने 'पुत्र' की यह व्युत्पत्ति नहीं की? हमारा उत्तर यह है कि व्युत्पत्ति तो ठीक है, केवल समझ का फेर है। प्रथम तो यह धारणा भ्रम-मूलक है कि 'पुत्र' केवल लड़के को ही कहते हैं, 'लड़की' को नहीं।

यास्क के निरुक्त में यह श्लोक मिलता है—

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ *(3/4)*

अर्थात् 'धर्म के अनुसार लड़का और लड़की दोनों को बिना विशेषता के दायभाग मिलता है। ऐसा स्वायम्भुव मनु ने कहा था, दूसरे, सन्तान को नरक का त्राता कहने का तात्पर्य यह है कि सन्तानोत्पत्ति करके और उसका यथोचित पालन करके मनुष्य 'पितृ-ऋण' से छूट जाता है। बिना ऋण चुकाये मोक्ष का भागी होना कठिन है। सन्तान को धर्मात्मा और सुशिक्षित छोड़ जाना एक प्रकार से मृतक के आत्मा के लिए भी लाभदायक है। क्योंकि पिता मरकर जब जन्म लेगा तो उसी प्रकार के घरों में, जैसा उसने

छोड़ा है। यदि सन्तान अधर्मी और विद्याहीन है तो आने वाले समाज की अवस्था भी बुरी होगी, और जो आत्मा मरकर जन्म लेगी उसको इसी बुरे समाज नरक-रूपी गढ़े में पड़ना पड़ेगा जिससे उसका अगला विकास बन्द हो जायेगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि सन्तान मनुष्य को नरक से बचाती है; परन्तु मृतक को पिण्ड देकर नहीं, किन्तु उत्तम सन्तानरूपी महायज्ञ के निष्पादन द्वारा सामाजिक वातावरण को शुद्ध करके। यदि इस दृष्टि से देखा जाता तो मोनियर विलियम्स को हिन्दू धर्म में इतना विरोध दिखाई न पड़ता। परन्तु जब हिन्दुओं ने स्वयं ही अपने सिद्धान्तों को बिगाड़ रखा हो, तो विदेशियों का क्या दोष?

भारत में यह प्रथा कब से?—भारतवर्ष में यह प्रथा कब से चली—इसमें सन्देह है। भारतवर्षीय पहले भी पुनर्जन्म को मानते थे और अब भी मानते हैं। बौद्ध और जैन मतों ने वेदों को मानना त्याग दिया था, परन्तु पुनर्जन्म पर वे भी उसी भाँति विश्वास रखते थे। दूसरे देशों के अतिप्राचीन इतिहास तो पुनर्जन्म का पता देते हैं, परन्तु पीछे के लोगों ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को त्याग दिया और वे मृतकों की आत्माओं की भाँति-भाँति से पूजा करने लगे। इसका प्रमाण पूर्वी तथा पश्चिमी देशों के इतिहास से मिलता है। बौद्धमत का जब चीन, जापान, ब्रह्मा आदि देशों में प्रचार हुआ तो बौद्ध लोग भी मृतक प्राणी की आत्मा के उपासक बन गये। महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनके उपासक उनको पूजने लगे थे। इस पूजा का यही अर्थ है कि वे मृतक की आत्मा को पूजते थे। इस प्रकार भारत में इस प्रथा का प्रचलन मुख्यतया बौद्धमत की देन है। इसका एक चिह्न यह है कि भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न तीर्थस्थानों में जो भिन्न कारणों से वर्तमान प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं, गया का तीर्थ-स्थान केवल मृतक-श्राद्ध और तर्पण के लिए प्रसिद्ध है। 'गया' के तीर्थ होने का पता बुद्ध भगवान से पहले नहीं मिलता।

'मनुस्मृति' में तो 'गया' का नाम है ही नहीं। 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' में श्राद्ध-तर्पण के सम्बन्ध में 'गया' का नाम आया है—

यद् ददाति गयास्थश्च सर्वमान्त्यमश्नुते।
तथा वर्षात्रयोदश्यां मद्यासु च विशेषतः॥

(याज्ञवल्क्य स्मृति 1/261)

'याज्ञवल्क्य स्मृति' स्पष्टतया बुद्ध भगवान के बहुत पीछे की है। हमारी धारणा है कि 'गया' की इस कीर्ति के दाता बुद्ध भगवान ही थे। जब बौद्धों और पौराणिकों में विग्रह आरम्भ हुआ और बौद्धों को पराजय तथा पौराणिकों को विजय प्राप्त हुई तो बौद्धों का मन्दिर इनके हाथ लग गया और अभी तक उसी तरह चला आता है। पौराणिक धर्म की नयी विशेषताओं का निरीक्षण करने से भली प्रकार ज्ञात होता है कि प्राचीन वैदिक धर्म के विकृत रूप में यदि बौद्ध और जैन मत की पुट दे दी जाये, तो परिणाम पौराणिक मत होगा। पौराणिक मत के ग्रन्थों और बौद्ध तथा जैन-ग्रन्थों में इस बाह्य रूप में बहुत बड़ा सादृश्य है। देवी-देवता, अवतार, मूर्तियाँ, मन्दिर, पूज्य पुरुषों के जन्म तथा आयु से सम्बद्ध गाथाएँ सब मिलते-जुलते हैं। इसी युग में वैदिक ग्रन्थों में मिलावट भी बहुत हुई है। हमारी धारणा है कि श्राद्ध और तर्पण का मृतकों के लिए विधान इसी मिलावट के फलस्वरूप है।

कुछ लोग कह दिया करते हैं कि यदि मिलावट होती तो उनके प्रमाण इस बहुतायत से न मिलते। वे दो बातों पर विचार नहीं करते। प्रथम तो बौद्ध मत की आँधी का वेग बहुत जोर का था। उसने भारतीय जीवन के सभी विभागों में अपना हस्तक्षेप किया था। दूसरे यह कि इस युग को दो सहस्र वर्ष के लगभग हो गये। इतने समय में जातियाँ कहीं की कहीं पहुँच जाती हैं। यदि पिछले वर्षों के केवल हिन्दी के साहित्य का समालोचनात्मक अध्ययन किया जाये तो पचास वर्ष पहले के और अब के सिद्धान्तों में बहुत बड़ा भेद मिलेगा। यूरोपियन जातियों के साहित्य में सौ वर्ष पहले विकासवाद का चिह्न भी न था। डार्विन के पश्चात् विकासवाद ने सभ्य देशों के साहित्य के सभी विभागों पर इतना बलपूर्वक आक्रमण किया कि अब काव्य, विज्ञान, इतिहास, दर्शन सभी पर विकासवाद का ठप्पा है। इसलिए यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है, यदि पितृ-यज्ञ को जीवित पितरों के स्थान पर मृत-पितरों के लिए मान लिया गया। मनुस्मृति का निम्न श्लोक विचारणीय है—

एकमप्याशयेद् विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके।
न चैवात्राशयेत् कंचिद् वैश्वदेवं प्रति द्विजम्॥

अर्थात्—"पञ्च-यज्ञ-सम्बन्धी पितृ-यज्ञ में एक ब्राह्मण को भी

भोजन करना पर्याप्त है। परन्तु वैश्वदेव के सम्बन्ध में किसी ब्राह्मण को भोजन न करावे।''

यह श्लोक और आगे के कई श्लोक मृतक-श्राद्ध के गौरव के हेतु ही जोड़े गये हैं और इस अध्याय के अन्त में तो मृतक-श्राद्ध की ऐसी घृणित विधियाँ दी गयी हैं जो आजकल के पौराणिकों को भी चक्कर में डालती हैं और उनको कहना पड़ता है कि 'मनुस्मृति' कलियुग के लिए है ही नहीं।

(3) वर्ण-सम्बन्धी क्षेपक—तीसरी मिलावट वर्णों को जन्म के अनुसार निश्चित करने के सम्बन्ध में है।

आजकल हिन्दू जाति बहुत-सी उपजातियों में विभक्त है। यह सब जन्म पर निर्भर है, अर्थात् ब्राह्मण का लड़का ब्राह्मण होता है और कान्यकुब्ज ब्राह्मण का लड़का कान्यकुब्ज। क्षत्रिय का लड़का क्षत्रिय होता है। इसी प्रकार नाई का लड़का नाई, कहार का कहार। वेदों में इन उपजातियों के नाम तो हैं नहीं। हाँ, चार वर्णों का वर्णन आता है अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। हिन्दुओं में यह जनश्रुति प्रचलित है कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य ऊरू से और शूद्र पैर से। परन्तु आज तक किसी भले मानस ने यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि इसका अर्थ क्या हुआ? ईश्वर का मुख क्या है और उससे ब्राह्मण कैसे उत्पन्न हो गये? ईश्वर का पैर क्या है और उससे शूद्र कैसे उत्पन्न हो गये? यह आलंकारिक भाषा है या वास्तविक? यदि आलंकारिक है तो वास्तविक अर्थ क्या है? यदि वास्तविक है तो अर्थ क्या हुआ? यदि कोई कहे कि आकाश के मुख से हाथी उत्पन्न हो गया तो पूछना चाहिए कि आकाश के मुख से क्या तात्पर्य है और उससे हाथी कैसे हो सकता है? तमाशा यह है कि सैकड़ों वर्षों से यह कहते चले आते हैं कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख से उत्पन्न हुए और शूद्र पैरों से। परन्तु किसी ने यह नहीं पूछा कि ईश्वर का पैर क्या है और उससे स्त्री या पुरुष कैसे उत्पन्न होते हैं। लोग कहते हैं कि वेद में ऐसा लिखा है। जिस वेदमन्त्र का प्रमाण दिया जाता है वह यह कहता है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥ *(यजु० 31/11)*

शब्दार्थ यह है—(1) ''ब्राह्मणः अस्य मुखम् आसीत्।'' ब्राह्मण इसका मुख था। (2) ''बाहू राजन्यः कृतः'' क्षत्रिय भुजा बनाया गया। (3) ''ऊरू तत् अस्य यत् वैश्यः'' जो वैश्य है वह उसकी जंघा थी।

इसमें यह नहीं लिखा गया कि ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय बाँह से और वैश्य जंघा से। अर्थ निकालने के दो ही उपाय हैं—या तो शब्दों से सीधा अर्थ निकलता हो या आलंकारिक अर्थ लेने के लिए कोई विशेष कारण हो। प्रत्येक शब्द के आलंकारिक अर्थ भी नहीं लेने चाहिए जब तक सीधा अर्थ लेना अप्रासंगिक न हो, और ऐसे आलंकारिक अर्थ भी न लेने चाहिए जो असम्भव या निरर्थक हों।

अब देखना चाहिए कि 'ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ, ऐसा अर्थ निकालने के लिए क्या हेतु है?' 'मुख' का अर्थ 'मुखात्' नहीं हो सकता—यह स्पष्ट है, न 'आसीत्' का अर्थ 'उत्पन्न हुआ' हो सकता है। 'ऊरू तत् अस्य यद् वैश्यः' जो वैश्य है वही ऊरू है' वाक्य की इस शैली से भी स्पष्ट है कि ऊरू से वैश्य के उत्पन्न होने की कल्पना बुद्धि-शून्य है। फिर यह सब अर्थ कैसे ले लिया गया? इसमें सन्देह नहीं कि समस्त पौराणिक साहित्य इस प्रकार की प्रतिपत्ति से व्याप्त हो रहा है, परन्तु इसको वेदों का आधार तो नहीं मिल सकता। मन्त्र के चौथे पाद में अवश्य 'पद्भ्यां शूद्रः अजायत'—'पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ' ऐसे शब्द हैं। परन्तु इस चौथे पाद की प्रत्यनुवृत्ति पहले तीनों तक ले जाना ठीक नहीं। कल्पना कीजिए कि यदि चारों पादों में ऐसा ही होता कि 'ब्राह्मणोऽस्य मुखादजायत' इत्यादि, तो भी प्रसंग को देखकर कुछ और अर्थ लेना पड़ता, क्योंकि मुख या बाहू से तो मनुष्य उत्पन्न हो नहीं सकते और न पैरों से। पूर्वापर देखने से अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं, क्योंकि जो मन्त्र हमने ऊपर दिया है उससे पहला मन्त्र है—

यत पुरुषं व्युदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते।

(यजु० 31/10)

शब्दार्थ इस प्रकार हैं—यत् = जब। पुरुषं = पुरुषं को। व्यदधुः = बनाया। कतिधा = किस-किस प्रकार से। व्यकल्पयन् = कल्पना की। मुखं

किं अस्य आसीत् = इसका मुख क्या था? किं बाहू = भुजाएँ क्या थीं? किं ऊरू = जंघाएँ क्या थीं? पादा उच्येते = दोनों पैर क्या कहे जाते हैं अर्थात् किस नाम से पुकारे जाते हैं?

वेदों में वर्ण—यहाँ तो शूद्र के सम्बन्ध में भी न पञ्चमी विभक्ति है, न उत्पन्न होने का सूचक शब्द है। केवल चार प्रश्न हैं कि पुरुष की किस-किस रूप में कल्पना की गयी है, अर्थात् किसको मुख माना गया, किसको बाहू, किसको ऊरू, किसको पैर? इन प्रश्नों से उपमालंकार स्पष्ट है और उसी के अनुसार अर्थ लेने चाहिए। उव्वट ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

1. कति प्रकारं विकल्पितवन्तः।

2. ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः स्थिता इत्यर्थः। *(उव्वट)*

महीधर कहते हैं—

किं च पादौ उच्येते पादावपि किमास्तामित्यर्थः। *(महीधर-भाष्य)*

इनसे स्पष्ट है कि यहाँ मुख आदि अंगों से ब्राह्मणादि के उत्पन्न होने की कथा न केवल असंगत किन्तु असम्भव भी है, और कोई थोड़ी-सी बुद्धिवाला मनुष्य भी ऐसी अण्ड-बण्ड कल्पना न कर सकेगा। हम महीधर के इन शब्दों से सहमत हैं कि—

प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते।

अर्थात्—'प्रश्न-उत्तर रूप में ब्राह्मण आदि की सृष्टि का कथन करने के लिए ब्रह्मवादियों के प्रश्न कहे जाते हैं।'

इन मन्त्रों का सीधा, सुसंगत तथा युक्ति-युक्त अर्थ यह है कि यह जो पुरुष-संघ या मनुष्य-जाति है उसमें मुख ब्राह्मण हैं, बाहू क्षत्रिय, ऊरू वैश्य और पैर शूद्र, अर्थात् सबसे उत्कृष्ट ज्ञानवान् नेता ब्राह्मण कहे जाने के योग्य हैं। बाहू के तुल्य रक्षा करनेवाले क्षत्रिय कहे जाने के योग्य हैं। ऊरू के तुल्य धन-सञ्चय करनेवाले वैश्य और निम्न श्रेणी के लोग शूद्र। 'मनुस्मृति' के इस श्लोक से भी यही ज्ञात होता है—

विप्राणां ज्ञानतो-ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः॥ *(2/155)*

'ब्राह्मणों में बड़प्पन ज्ञान की अपेक्षा से है, क्षत्रियों में शक्ति की अपेक्षा से, वैश्य में धन-धान्य से और शूद्र में जन्म से।' अर्थात् जन्म के

द्वारा बड़प्पन मनुष्य की निकृष्टतम वृत्ति है। नीचे के श्लोकों में ब्राह्मण आदि के जो कर्तव्य बताये गये हैं, वे भी इसी दृष्टिकोण को बताते हैं—

अध्यापनमध्ययनं यजन याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
वणिक् पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

(मनु० 1/89-92)

'मनुस्मृति' पर प्रायः लांछन लगाया गया है कि इसमें जाति-पांति के भेदभाव को स्थान दे दिया गया है। हिन्दू जाति की वर्तमान अवस्था को देखते हुए यह आक्षेप ठीक-सा प्रतीत होता है। परन्तु यह केवल प्रतीति-मात्र है। हम प्राचीन काल को देखते समय वर्तमान काल की ऐनक लगा लेते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि हिन्दू जाति की वर्तमान दशा का उत्तरदायित्व 'मनुस्मृति' पर नहीं, किन्तु उन लोगों पर है जिन्होंने प्रमादवश मनु के उपदेशों को भुला दिया या स्वार्थवश उसमें क्षेपक मिला दिये। लोग कहते हैं कि मनु ने ब्राह्मणों को उच्चपद क्यों दिया? वह आक्षेप इसलिए है कि हम ब्राह्मण का अर्थ 'ब्राह्मणवंशज' ले लेते हैं। यदि ब्राह्मण का अर्थ उस कर्तव्य से युक्त मनुष्य को लें जो मनु ने बताया है, अर्थात्—'अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान, प्रतिग्रह' तो प्रत्येक मनुष्य मनु से सहमत अपना गौरव समझेगा। प्रत्येक जाति और देश में ऐसे लोग सर्वोपरि समझे जाते हैं।

एक आख्यायिका में 'शतपथ ब्राह्मण' में ब्रह्म और क्षत्र की बड़ी उत्तम व्याख्या करते हुए उस शैली के अनुसार इतनी बातें बताई गयी हैं—

(1) ब्राह्मण और क्षत्रिय आत्मिक वृत्तियाँ हैं। 'सोचने' की वृत्ति को ब्रह्म कहते हैं और 'करने' की वृत्ति को क्षत्रिय।

(2) बिना सोचे कर्म नहीं हो सकता। इसी प्रकार बिना ब्राह्मण के क्षत्रिय सफल नहीं हो सकता। इसलिए ब्राह्मण क्षत्रिय की अपेक्षा उच्च है।

(3) जब दोनों वृत्तियाँ अलग-अलग रहती हैं तो असफलता रहती है। जब ये दोनों मिल जाती हैं तो सफलता होती है।

आजकल भी सभी सभ्य जातियाँ अपनी ब्रह्मशक्ति का मान करती हैं। सर्वोपरि ब्रह्मशक्ति ही है। वह मस्तिष्क है। बिन मस्तिष्क के भुजाएँ कुछ नहीं कर सकतीं। जिस मूल तत्त्व को 'शतपथ ब्राह्मण' ने आख्यायिका के रूप में वर्णन किया है, और जिसकी व्याख्या 'मनुस्मृति' में विद्यमान है, उसी मूलतत्त्व का प्रचार हम वर्तमान सभ्य जातियों में पाते हैं। परन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि वैदिक सभ्यता के शत्रु गुण को भी अवगुण मानकर हिन्दू जाति की वर्तमान दुर्दशा का दोष मनु के ऊपर थोप रहे हैं। इस दोष का कारण वे क्षेपक हैं जिनमें चातुर्वर्ण्य के अतिरिक्त बहुत-सी अन्तर्जातियाँ गिना दी गयी हैं, जो सर्वथा जन्म के ही आश्रित हैं।

हाँ, हमको यह बात अस्वीकार नहीं है कि जो रियायतें केवल उच्चकोटि के आचरणशील वेदज्ञ के लिए ही थीं, वे साधारण मूर्ख ब्राह्मण कहलानेवाले व्यक्तियों को भी दी जाने लगीं और इससे जाति का सत्यनाश हो गया। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि इन नामधारी ब्राह्मणों ने ब्राह्मण-सामन्तवाद के युग में अपना उल्लू सीधा करने के लिए कुछ ऐसे घृणित नियम भी बना दिये जिससे अन्य लोगों का सर्वथा अपमान और स्वयं इनका अध:पतन हो गया, जैसे दक्षिण में ब्राह्मण का अधिकार हो गया कि वह शूद्र स्त्रियों से संसर्ग कर सके और शूद्र स्त्रियाँ पाप के भय से उसका विरोध न कर सकें। दाल्भ्य ऋषि की कथा है कि उसने किसी राजा से कहा कि यदि अमुक पाप से बचना चाहते हो तो तुम्हारी रानी किसी ब्राह्मण के साथ सम्पर्क करे। ऐसी घृणित बातों की जितनी निन्दा की जाये थोड़ी है। ऐसा उपदेश देनेवाले ऋषि नहीं, किन्तु धूर्त थे। परन्तु इनका मनु या 'मनुस्मृति' से कोई सम्बन्ध नहीं और 'मनुस्मृति' से ऐसा कूड़ा निकालकर फेंक देना चाहिए।

(4) दण्डविधान-सम्बन्धी क्षेपक—चौथी बात दण्डविधान की है। मनु का दण्डविधान सरल, समतायुक्त तथा स्वाभाविक है। आततायी को कठोर दण्ड देने के पीछे स्पष्ट ही यह भावना है कि समाज में अन्याय न पनपने पाये। महात्मा कन्फ्यूशस ने कहा था कि मेरे राज्य के सुख का मूल कारण यह है कि मेरे यहाँ धर्मात्मा सत्कृत होते हैं और अन्यायी दण्डित

होते हैं। इस प्रकार अन्यायी का दमन तो आवश्यक है, पर अतिवाद सर्वत्र वर्जित है। पीछे के सुधारकों ने, या तो सुधार को तीव्र करने के लिए या पक्षपात में फँसकर अनेक स्थलों पर दण्डविधान को विषम तथा अन्यायपूर्ण बना दिया है। शूद्रों के लिए व्यर्थ ही कड़े दण्डों का विधान है जो सर्वथा अनुचित है, और कहीं-कहीं तो दण्डविधान के साथ-साथ व्याख्यान-रूप में श्लोक-के-श्लोक मिला दिये गये हैं। यह बात उन-उन स्थलों को देखने से विदित हो जाती है। 'मनुस्मृति' के माथे से इस कलंक को दूर करने का एकमात्र उपाय है कि इन वेद-विरोधी स्थलों को छाँट दिया जाये।

मनु और स्त्रियाँ—वैदिक सभ्यता के विरोधियों ने वैदिक सभ्यता के प्रत्येक गुण को अवगुण सिद्ध करने का यत्न किया है और बहुत-से कल्पित अवगुण वैदिक सभ्यता के मत्थे मढ़ दिये हैं। ये विरोधी नित्यप्रति वैदिक धर्मियों में असन्तोष का बीज बोते रहते हैं। इनमें से एक है 'स्त्रियों के अधिकारों का प्रश्न'। कहा जाता है कि मनु ने स्त्री के पद को मनुष्य-समाज में बहुत नीच माना है। बहुत पढ़ी-लिखी हिन्दू रमणियाँ हिन्दू धर्मग्रन्थों के प्रति इसलिए भी घृणा प्रकट करने लगी हैं। यह आक्षेप इतनी कोटियों में विभक्त हो सकता है—

(1) हिन्दू घरों में स्त्रियों को नीच समझा जाता है।

(2) उनको वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है।

(3) उनको सदा पुरुषों के अधीन रहना होता है।

(4) उनको पैतृक सम्पत्ति में कुछ भाग नहीं मिलता।

(5) सदाचार के नियम स्त्रियों के लिए पुरुषों की अपेक्षा अधिक कड़े हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न देशों में स्त्रियों की स्थिति के भिन्न-भिन्न नियम रहे हैं। आज से कुछ दिनों पूर्व भारतवर्ष में स्त्रियों की दशा अवश्य ही दयनीय थी। पुरुषों के अत्याचार बहुत-बहुत बढ़ गये थे। परन्तु आक्षेप करनेवाले दो बातों को भूल जाते हैं। पहली यह कि स्त्रियों के इस पतन के लिए वेद या 'मनुस्मृति' उत्तरदाता नहीं है। दूसरी यह कि न केवल भारतवर्ष ही, किन्तु अन्य देशों और जातियों में भी स्त्रियों की दशा वैसी ही बल्कि उससे भी बदतर थी। स्त्रियों में वैदिक धर्म

के प्रति घृणा उत्पन्न करने का विशेष काम ईसाइयों की ओर से होता है जब कि तमाशा यह है कि स्त्रियों की अधोगति को जारी रखने में यहूदी, ईसाई तथा उनसे उत्पन्न हुए मतों का ही सबसे बड़ा हाथ रहा है। इनका यह सिद्धान्त कि हव्वा को आदम की पसली से बनाया, आदम के पीछे बनाया और आदम के लिए बनाया, विषैली गैस की तरह समस्त वायुमण्डल में प्रविष्ट हो गया है।

बाइबल की तरह वेद यह नहीं मानता कि स्त्री पुरुष के पीछे हुई, न यह मानता है कि उसके शरीर से हुई और न यह मानता है कि पुरुष के लिए हुई। पुराणों में यह तो आया है कि देवी से ब्रह्मा, विष्णु और महेश उत्पन्न हुए। वह भी वैदिक धर्म के विरुद्ध है, परन्तु उससे कम से कम स्त्री की उत्कृष्टता ही सिद्ध होती है।

कुछ स्त्रियाँ अंग्रेजी शब्द better-half की बाहरी रोचकता पर मुग्ध हो जाती हैं। उनको क्या पता कि इस खुशामद के पीछे भी विलासिता छिपी हुई है, जो स्त्रियों के पद को ऊँचा नहीं होने देती। भारतवर्ष का आदर्श तो यह था कि न पुरुष better-half (उत्कृष्टार्द्ध) है, न स्त्री। दोनों एक-दूसरे के बराबर हैं। रथ के दो पहियों का दृष्टान्त प्रसिद्ध ही है। ऋग्वेद का मन्त्र यही आशय प्रकट करता है—

माता पितरमृत आवभाज। *(ऋ० 1।164।8)*

'ऋत' अर्थात् प्राकृतिक नियम में 'माता' अर्थात् स्त्री और 'पिता' अर्थात् पुरुष को बराबर-बराबर बाँटा हुआ है। इसीलिए तो उसको पुरुष की अर्द्धांगिनी कहते हैं। वह पीछे से नहीं बनाई गयी, किन्तु उसकी उत्पत्ति साथ-साथ हुई है।

वेद में स्त्री की पदवी बहुत ऊँची है। वह अपने को पति की दासी नहीं कहती। वह कहती है—

(1) अहं तद् विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः।

मैं बला अर्थात् बलवाली हूँ (अबला नहीं)। मैंने पति को जीता है।

(2) अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी। *(ऋ० 10।159।102)*

मैं केतु हूँ। मैं मूर्द्धा हूँ। मैं उग्र निर्णायक हूँ।

अब मनुस्मृति पर दृष्टि डालिए—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥ *(3/56)*

जहाँ स्त्रियों का मान होता है वहाँ देवों का निवास है। जहाँ मान नहीं होता, वहाँ के सब कामों में असफलता होती है।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥ *(3/55)*

अर्थात् जो पिता, भाई, पति, देवर आदि अपना कल्याण चाहते हैं, उन सबको चाहिए कि स्त्रियों का सम्मान करें और उनको विभूषित करते रहें।

मनु को इस आदेश के करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि वे पुरुष की प्रकृति को जानते थे। पुरुष शरीर की अपेक्षा से बलवान् होते हैं। उनके लिए अत्याचार करने और स्त्री को दबाने की अधिक सम्भावना है।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत् कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥ *(3/57)*

जिस कुल में स्त्रियों को कष्ट दिया जाता है वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। जहाँ स्त्रियों को कष्ट नहीं होता, वहाँ अवश्य वृद्धि होती है।

इन श्लोकों में तो स्त्रियों को नीच, शूद्र या दयनीय समझने की गन्ध भी नहीं है। हाँ, नवें अध्याय के कुछ श्लोक हैं जिनका अर्थ ऐसा लगाया जा सकता है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ *(9/3)*

अर्थात् बाल्य अवस्था में पिता रक्षा करता है, यौवन में पति, बुढ़ापे में पुत्र। स्त्री कभी स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है।

परन्तु आक्षेप करनेवाले भूल जाते हैं कि स्त्री जाति को रक्षा की कितनी आवश्यकता है। वह शरीर से निर्बल है। उसके लिए रक्षक या बॉडीगार्ड चाहिए जो उसको आपत्तियों से बचाता रहे। आजकल जिन सभ्य देशों की दुहाई दी जाती है वहाँ भी स्त्रियों की रक्षा के लिए विशेष सामाजिक नियम हैं, क्योंकि उनको दुष्टों से अधिक भय है। मनु ने यदि स्त्री के कल्याण के लिए उसकी रक्षा का भार उसके पुरुष-सम्बन्धियों को

सौंप दिया तो बुराई क्या की? पुरुष से रक्षा की आशा रखना स्त्री का अधिकार है जो उसे सभ्यता के नाते प्राप्त है। यह उसके लिए बन्धन नहीं। इसीलिए तो मनु ने स्त्रियों के सम्बन्धियों को रक्षा न करने पर अपराधी ठहराया। देखिए अगला श्लोक—

कालेऽदाता पिता वाच्यो, वाच्यश्चानुपयन् पतिः।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुरक्षिता॥ *(9/4)*

अर्थात् 'जो पिता समय पर कन्या का विवाह न करे, जो पति समय पर अपनी स्त्री को रति-सुख न दे, जो पुत्र अपने पिता की मृत्यु पर अपनी माता के संरक्षण का भार अपने ऊपर न ले वह दोषी और अपराधी है।' इससे यह सिद्ध तो नहीं होता कि स्त्री को बेड़ियों से जकड़ दिया गया। यदि स्त्रियों में सौंदर्य अधिक है, यदि इस सौंदर्य के कारण उनके लुट जाने की अधिक सम्भावना है, यदि सम्भव है कि बदमाश लोग उन पर अत्याचार कर सकें और यदि इन आपत्तियों से बचाने के लिए समाज की ओर से उनकी रक्षा का भार किसी को सौंप दिया जाये तो इससे निन्दा सिद्ध नहीं होती। कहा जा सकता है कि पिता, पति तथा पुत्र ने अपनी इस कर्तव्यपरायणता के बहाने उनको कैद कर दिया। उनको परदे में जकड़ दिया। उनको अन्यान्य विधि से तंग किया। परन्तु यह तो उनके अधिकारों का दुरुपयोग था।

अच्छा कल्पना कीजिए कि स्त्री को सर्वथा इतना स्वतन्त्र कर दिया जाये कि पिता, पति या पुत्र उसकी रक्षा के भार से मुक्त हो जायें तो क्या दशा होगी? कुछ नयी रोशनी की स्त्रियाँ कहेंगी कि अच्छा तो है, हमको छोड़ दो, हम सब-कुछ कर लेंगी। परन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि इन स्त्रियों को अपनी तथा पुरुषों की प्रकृति का पूरा ज्ञान नहीं है। सभी चमकनेवाली चीजें सोना नहीं हैं। हम नित्यप्रति देखते हैं कि सभ्य तथा असभ्य सभी देशों में स्त्रियों को ठगने के लिए क्या-क्या जाल नहीं रचे जाते। भेद केवल इतना है कि कहीं उनको फँसाने के लिए लोहे के पिंजड़े बनाये जाते हैं और कहीं सोने के। सोने के पिंजड़ों को देखकर युवतियाँ खुश हो जाती हैं। परन्तु उनको शीघ्र ही पता चल जाता है कि सोने के पिंजड़े लोहे के पिंजड़े से अधिक कड़े हैं।

रही यह बात कि स्त्रियों की रक्षा का यह अर्थ नहीं कि उनको बाँधकर रखा जाये। यह तो ठीक ही है। मनु ने तो इसके विरुद्ध यह नियम भी बना दिये थे जिससे ये रक्षक इस 'अति' को न कर सकें। मनुस्मृति स्वयं कहती है—

न कश्चिद् योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्। *(9 / 10)*

अर्थात् कोई जबरदस्ती बाँधकर स्त्री की रक्षा नहीं कर सकता।

मनु ने न केवल स्त्रियों की रक्षा न करने से पिता, पति और पुत्र को दोषी ठहराया है, प्रत्युत कई अवस्थाओं में एक के संरक्षण का भार दूसरे पर सौंपा है, जैसे विद्वान् के भूखों मरने से राजा को दोष लगता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि विद्वान् को राजा के अधीन कर दिया। आजकल स्त्रियाँ जिस स्वच्छन्दता की इच्छुक हो रही हैं वह शीघ्र ही उनकी आँखें खोल देगी, क्योंकि यह उन्हीं के लिए भयानक है। सैकड़ों लड़कियाँ इस स्वच्छन्दता के कारण सभ्य देशों में अकथनीय कष्ट उठा रही हैं। आरम्भ में तो झूठी स्वच्छन्दता के लोभ में आकर वे प्रसन्न हो जाती हैं, परन्तु शीघ्र ही उनको अपनी भूल मालूम हो जाती है।

दायभाग का प्रश्न—अब रहा दायभाग का प्रश्न। लोगों को शिकायत है कि स्त्रियों को हिन्दू धर्म में अपनी पैतृक सम्पत्ति का कुछ भी नहीं मिलता। यह एक मौलिक प्रश्न है और इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

'मनुस्मृति' वेदमूलक है, अतः सबसे पूर्व देखें कि इस विषय में वेद क्या कहते हैं।

लड़का और लड़की दोनों ही दायभाग के अधिकारी हैं। इसको एक ऋचा और एक श्लोक से स्पष्ट किया है—

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥

अर्थात् अंग-अंग से उत्पन्न होता व हृदय से प्रकट होता है। इसलिए हे पुत्र, तू आत्मा है। सौ वर्ष तक जी। यहाँ 'पुत्र' से लड़का और लड़की दोनों को लिया है क्योंकि दोनों ही अंग-अंग से उत्पन्न होते हैं। लड़की की उत्पत्ति और लड़के की उत्पत्ति में कुछ भेद नहीं है।

परन्तु श्लोक से तो अत्यन्त सुस्पष्ट हो जाता है—

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ *(निरुक्त 3/4)*

अर्थात् बिना किसी विशेषता के लड़का और लड़की दोनों (पुत्राणां मिथुनानां) दायभाग के अधिकारी हैं। ऐसा सृष्टि के आरम्भ में स्वायम्भुव मनु ने कहा था।

इससे पता चलता है कि यास्क के समय 'मनुस्मृति' या मनु के किसी उपदेश के आधार पर 'पुत्र' से लड़का और लड़की दोनों ही अभिप्रेत थे और दोनों दायभाग के अधिकारी थे। संस्कृत में लिंग का सम्बन्ध शब्दों से है, अर्थ से नहीं। सम्भव है पीछे से इस प्रसंग में भी 'पुत्र' शब्द केवल लड़के के लिए प्रयुक्त हो गया और लड़कियाँ दायभाग से वञ्चित कर दी गईं।

कुछ लोगों का विचार है कि जायदाद के झगड़े को ही मिटा दो। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। जायदाद नष्ट होते ही दायभाग के झगड़े ही समाप्त हो जायेंगे। जितनी जायदाद होगी, वह जातिभर की। जाति जिसको जितनी आवश्यकता होगी उतना दे देगी। यह सिद्धान्त बहुत ही सुन्दर और चित्ताकर्षक है। परन्तु संस्कृत की कहावत है कि '**दूराद् हि पर्वता रम्याः**'—पहाड़ दूर से ही सुन्दर प्रतीत होते हैं। जो बात व्यवहार में नहीं आ सकती, उसकी मीमांसा से क्या लाभ? जो लोग भूल-भुलैया को पसन्द करते हैं वे करते रहें। हम तो किसी को मूर्खों के स्वर्ग (fool's paradise) की इच्छा करने का परामर्श नहीं दे सकते। जायदाद वह चीज है जिसके स्थापित करने के लिए मनुष्य अपनी बुद्धि, शक्ति तथा अपने शुभ गुणों का विकास करता है यदि यह कामना न रहे तो लाखों पीछे एक-दो संन्यास-वृत्तिवालों को छोड़कर शेष उदासीन, आलसी, प्रमादी तथा विषयी हो जायेंगे और जायदाद के होने से जो बुराइयाँ उत्पन्न हो रही हैं उनसे सहस्र-गुनी उठ खड़ी होंगी। यह ठीक है कि कभी-कभी आँख फूटने से पीड़ा दूर हो जाती है, परन्तु आँख को फोड़ डालना पीड़ा का इलाज नहीं है। मनु ने जायदाद को स्थापित रखने के लिए उपाय बताये हैं—

(1) जायदाद केवल लड़कों को ही मिले।

(2) लड़कियों को स्त्री-धन मिले।

इससे साधारणतया जाति की हानि नहीं, क्योंकि जो लड़की अपने पति के घर जाती है वह उस जायदाद की स्वामिनी बन जाती है जो उसके पति की है। इसी प्रकार उसके पिता की जायदाद जो उसके भाई को मिली, उस पर उसकी भौजाई का स्वत्व हो गया। इससे न तो जायदाद के टुकड़े हुए, न एक वंश में ही विवाह करने पड़े, न स्त्रियाँ ही अपने स्वत्व से वञ्चित रहीं। जहाँ बड़ी-बड़ी जायदाद हैं, जैसे राज्य आदि, वहाँ के लिए और नियम बनाये, अर्थात् राज्य का अधिकारी ज्येष्ठ पुत्र हो। अन्य पुत्रों को गुजारा मिले। तात्पर्य यह है कि छोटी-छोटी जायदाद तो परिवारों की अपनी हैं, परन्तु बड़ी रियासतें राजा की निज-सम्पत्ति नहीं। वह तो प्रजा के हित के लिए प्रबन्धक मात्र है। अतएव परिवार के लोगों को उसके बाँटने का अधिकार नहीं। अन्यथा राज्य के टुकड़े होने से अनेक नैतिक दोष उत्पन्न हो जायेंगे, और जातीय एकता नष्ट हो जायेगी।

पुत्र न होने की अवस्था में 'पुत्रिका' का नियम बनाया गया है। यास्क कहते हैं—

अभ्रातृमती वाद इत्यपरम्।

अर्थात् 'जिस लड़की के भाई न हो उसके लिए अलग नियम है। 'मनुस्मृति में लिखा है—

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात् स्वधाकरम्॥ *(9/127)*

अर्थात् 'जिसके पुत्र न हो और जायदाद हो, वह अपनी लड़की को पुत्रिका बना ले। पुत्रिका उस लड़की को कहते हैं जो विवाह के पश्चात् पति के घर नहीं जाती किन्तु पति ही उसके यहाँ आकर रहता है और उसकी सन्तान अपने नाना की जायदाद की दायभागी होती है।

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥ *(9/130)*

अर्थात् 'जैसे स्वयं वैसा पुत्र। पुत्र के बराबर पुत्री। उसके रहते हुए अन्य कौन धन ले सकता है?'

बहुधा कहा जाता है कि स्मृतियों के अनुसार स्त्री का कोई अधिकार

ही नहीं रखा। ऐसी बात नहीं है। 'मनुस्मृति' का दायभाग के सम्बन्ध में सबसे पहला श्लोक है—

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम्।
भजेरन पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः॥ *(9/104)*

अर्थात् 'पिता और माता दोनों के मरने पर भाई पैतृक जायदाद को बराबर-बराबर बाँट लें। उनके जीवन में वे पुत्र कुछ अधिकार नहीं रखते।' यहाँ 'मातुश्च' शब्द से प्रकट होता है कि माता के जीवन-काल में माता ही अधिकारी है, पुत्र नहीं। 'अनीशास्ते हि जीवतोः' में 'जीवतोः' द्विवचन में आया है अर्थात् जब तक माता जीवित है तब तक लड़कों को अधिकार नहीं है। यदि माता को वञ्चित रखना होता तो द्विवचन का प्रयोग व्यर्थ था। और देखिए—

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम्॥ *(9/217)*

अर्थात् 'यदि कोई पुत्ररहित मर जाये तो उसकी जायदाद माता ले। माता न हो तो दादी लेवे।' आगे देखिए—

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः।
भजेरन् मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः॥ *(9/192)*

अर्थात् 'माता के मरने पर सब भाई और सहोदरा बहनें माता की जायदाद का बाँट कर लें।'

इतना ही नहीं, धेवतियों का भी भाग है—

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः।
मातमह्या धनात् किञ्चित् प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम्॥ *(9/193)*

अर्थात् 'उन लड़कियों की यदि लड़कियाँ हों तो उनको भी नानी के धन में से कुछ प्रीतिपूर्वक देना चाहिए।'

स्त्री-धन के विषय में लोगों का विचार है कि यह एक अकिञ्चित् वस्तु थी। परन्तु 'मनुस्मृति' के देखने से पता चलता है कि मनु ने स्त्री-धन को विशेषता दी है। यह धन पिता या भाइयों की इच्छा पर निर्भर नहीं रखा—

स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्।
स्वात् स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः॥ *(9/118)*

अर्थात् 'भाई लोग अपने-अपने अंश का चौथाई भाग बहनों को दें। न देना चाहें तो पतित समझे जावें।'

इससे प्रतीत होता है कि राजनियम से भी कड़ा समाजनियम किया गया था जिससे स्त्रियाँ भाग-शून्य न रहने पावें। पीछे से लोगों ने खींचातानी करके कुछ का कुछ अर्थ निकाल लिया। उदाहरण के लिए कुछ लोग कहते हैं कि इससे केवल विवाह-मात्र का व्यय अभिप्रेत है। परन्तु यह भी पीछे की कल्पना है, जब भाइयों ने बहनों को धन देने से इनकार किया होगा। मनु का मन्तव्य तो सुस्पष्ट है।

इस प्रकार हमारी यह धारणा सर्वांश में सत्य है कि वेद और 'मनुस्मृति' आदि वैदिक शास्त्रों में स्त्रियों की वही स्थिति है जो उनकी मनुष्य-समाज मे होनी चाहिए अर्थात् जो उनके और मनुष्य-समाज के लिए उपयोगी है। उनका पतन पीछे से (पौराणिक काल में) हुआ है। आवश्यकता है कि इसका निराकरण होकर स्त्रियों का हमारे समाज में पूर्ववत् समादर हो और स्त्रियाँ भी पश्चिमी सभ्यता के विषैले प्रवाह-प्रभाव से बचें, तथा स्वात्म-गौरव को प्रतिष्ठित करें।

प्रक्षेप किस प्रकार किये जाते हैं ? एक उदाहरण—हिन्दुओं में दायभाग का नियम बड़ा जटिल है। इसका यह कारण नहीं कि प्राचीन स्मृतियों का उद्देश्य ही इनको जटिल करना था। वस्तुतः उन्होंने तो सुगम और सरल नियम बनाये, पीछे से जटिलता आ गयी। हिन्दू एक प्राचीन जाति है। समय-समय पर दायभाग के विषय में झगड़े हुए। भिन्न-भिन्न पक्षों ने अवश्य ही अपने-अपने पक्ष के लिए पण्डितों से सहायता ली। उन्होंने अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए प्रक्षिप्त डाल दिया। यह केवल कल्पना नहीं है, किन्तु इसके लिए ऐतिहासिक प्रमाण भी हैं। 'दत्तक मीमांसा' को नन्द पण्डित ने इसी उद्देश्य से बनाया था। यह बहुत थोड़े दिनों का ग्रंथ है और ब्रिटिश राज्य स्थापित होने से सौ-सवा सौ वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। ब्रिटिश राज्य के आरम्भ में भूल से इसका अंग्रेजी में अनुवाद हो गया और अंग्रेजी न्यायालयों ने इसको प्रमाण मान लिया। इलाहाबाद हाईकोर्ट की पूरी सभा (Full bench) ने सर जॉन एज (Sir John Edge) के सभापतित्व में एक फैसला दिया था। उसमें इस बात

को विस्तारपूर्वक सिद्ध किया गया है कि नन्द पण्डित के क्षेपक को आदर की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। कहते हैं कि 'दत्तक-मीमांसा' एक धेवते को दायभाग से वञ्चित करने के लिए लिखी गयी है।

'दत्तक-चन्द्रिका' एक दूसरी पुस्तक है जिसके विषय में सभी बंगाली विद्वानों को पता है कि यह रघुमणि विद्याभूषण का बनाया हुआ जाल है। रघुमणि कोलब्रुक (Colebrooke) साहब के साथी पण्डित थे, बंगाल के एक राजा थे। उन्होंने एक लड़का गोद रखा था। पीछे से उनके अपना लड़का हो गया। उनके मरने पर प्रश्न हुआ कि राज का अधिकार किसको मिले ? गोद के रखे हुए लड़के का पक्ष सिद्ध करने के लिए रघुमणि महोदय ने पुस्तक लिख दी। इसके हिसाब से गोद के लड़के को आधा राज मिलना चाहिए। यदि पुस्तक न होती तो पुराने विधान से एक-तिहाई मिलता। यह मुकदमा आगे नहीं चला, क्योंकि सन्धि हो गयी। इसका अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

र-म्यैषा चन्द्रिकादत्त पद्धतेर्दर्शिका ल-घु-
म-नोरमा सन्निविशैरंगिणां धर्मतार-णिः ॥

इसके पहले और पिछले अक्षरों से 'रघुमणि' शब्द बनता है।

1832 ई० में कलकत्ता संस्कृत कॉलेज के पण्डितों ने एक और जाल रचा। जैनियों की एक पुस्तक लिखकर कॉलेज के पुस्तकाध्यक्ष को रिश्वत देकर पुस्तकालय के रजिस्टर में दर्ज करा दी। डॉक्टर एच० एच० विल्सन (Dr.H.H. Wilson) कॉलेज के मन्त्री थे। उनको सन्देह हो गया। पुस्तक पकड़ी गयी। पण्डित महोदय ने अपना अपराध स्वीकार किया। उस दिन से वहाँ पण्डितों से व्यवस्था देने का अधिकार छीन लिया गया। (देखो सरकार, शास्त्री का हिन्दू लॉ, पृ० 187)

जब यह क्षेपकों का जाल इस समय तक जारी है तो न जाने मध्यकाल में कितने अवसर जाल बनाने के लिए उपस्थित न हो चुके होंगे और मानव-धर्मशास्त्र को कितनी बार वैदिक धर्म और संस्कृति के शत्रु स्वार्थी जनों तथा पद, प्रतिष्ठा और पैसे के लोभी पामर लोगों द्वारा बिगाड़ा न गया होगा!